इकाई–I

प्रमुख अवधारणाएँ

1. न्याय (Justice)

न्याय की अवधारणा (Concept of Justice)

न्याय की संकल्पना प्राचीन काल से ही राजनीतिक चिंतन का महत्त्वपूर्ण विषय रही है। पश्चिमी परम्परा के अन्तर्गत न्याय के स्वरूप की व्याख्या करने के लिए मुख्यतः ' न्यायपरायण व्यक्ति ' अर्थात् सद्चरित्र मनुष्य के गुणों पर विचार किया जाता था। इसमें उन सद्गुणों की तलाश की जाती थी जो व्यक्ति को न्याय की ओर प्रवृत्त करते हैं। भारतीय परम्परा में भी मनुष्य के ' धर्म ' को प्रमुखता दी गई है। इन दोनों ही मान्यताओं में मनुष्य के कर्त्तव्य पालन पर बल दिया गया है। प्रत्येक मनुष्य द्वारा अपना निर्दिष्ट कार्य करना एवं दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप न करना ही न्याय है। यद्यपि आधुनिक चिंतन में न्याय की परिभाषा में परिवर्तन आया है।

न्याय ' प्रत्यय ' की व्याख्या अलग–अलग विचारकों ने अपने–अपने ढंग से करने का प्रयत्न किया है। पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन में न्याय के अर्थ को स्पष्ट करने का सर्वप्रथम प्रयास यूनानी दार्शनिक एवं राजनीतिक विचारक प्लेटो ने किया था। प्लेटो ने अपने दर्शन में ' न्याय ' प्रत्यय को मनुष्य का आत्मीय गुण माना है। उनके अनुसार यह वह सदगुण है जिससे प्रेरित होकर मनुष्य सबकी भलाई में अपना भला ढूंढता है। प्लेटो से लेकर अब तक सभी चिंतकों ने न्याय को महत्त्वपूर्ण राजनीतिक एवं नैतिक प्रत्यय माना है। एक तरफ न्याय, व्यक्ति का निजी चारित्रिक सद्गुण है, वहीं दूसरी तरफ न्याय राजनीतिक समाज का वांछनीय गुण माना गया है। न्याय, नैतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक निर्णयन को प्रभावित करने वाला तत्व है। मध्यकालीन ईसाई विचारकों ऑगस्टाइन व एक्वीनास ने न्याय की अपने ढंग से व्याख्या की है। आधुनिक चिंतन के प्रारम्भिक चरण में हॉब्स, ह्यूम, कार्ल मार्क्स, काण्ट और मिल ने अपने चिंतन में न्याय को प्रमुख स्थान प्रदान किया है। समकालीन विचारकों में जॉन रॉल्स ने न्याय को नवीन स्वरूप में प्रस्तुत किया है।

1.1 प्लेटो का न्याय सम्बन्धी विचार (Plato's Concept of Justice)

प्लेटो का न्याय से तात्पर्य है प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपना निर्दिष्ट कार्य करना और दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप न करना। प्लेटो ने न्याय को एक मौलिक सदगुण (Cardinal) मानते हुए कहा है कि हम सभी अपेक्षित हितों को साधने में सहायक बनें।

प्लेटो अपनी पुस्तक रिपब्लिक में न्याय को समझाने के लिए पुस्तक II, III और IV में काफी रोचक विश्लेषण करता है। वह सबसे पहले सामाजिक व राजनीतिक न्याय की धारणा को व्यक्तिगत न्याय से पृथक् करने की चेष्टा करता है। इबेन्स्टीन ने लिखा है कि '' न्याय के विचार विमर्श में प्लेटो के राजनीतिक दर्शन के सभी तत्व निहित है। ''

"In the discussion of justice all elements of Plato's political philosophy are contained." - **Ebenstein**

प्लेटो न्याय के दो रूप मानता है जिनमें एक व्यक्तिगत और दूसरा सामाजिक या राज्य से सम्बन्धित न्याय। प्लेटो की मान्यता थी कि मानवीय आत्मा में तीन तत्व पाये जाते हैं – बुद्धि, शौर्य और तृष्णा। इन तीनों तत्वों की मात्रा के अनुसार ही वह राज्य और समाज में तीन वर्ग स्थापित करता है। पहला शासक वर्ग, जिसमें बुद्धि का अंश सर्वाधिक पाया जाता है। दूसरा सैनिक वर्ग या रक्षक वर्ग जिसमें शौर्य एवं साहस तत्व की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा पायी जाती है। तीसरा उत्पादक या सहायक वर्ग जिसमें इन्द्रिय तृष्णा व इच्छा तत्व की अधिकता पायी जाती है। सभी मनुष्यों में तीनों तत्व न्यूनाधिक मात्रा में पाये जाते हैं। परन्तु जिस तत्व की मात्रा प्रधान रूप से पायी जाती है, वही उसके सद्गुणों को प्रवृत करता है। प्लेटो न्याय को आत्मा का मानवीय सद्गुण मानता है। प्लेटो के अनुसार आत्मा में निहित न्याय का विचार वास्तव में राज्य में निहित न्याय का ही सादृश्य है। जिस प्रकार व्यक्ति की आत्मा में विद्यमान न्याय व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को परस्पर संतुलित करता है, उसी भाँति राज्य में व्याप्त न्याय, समाज के तीनों वर्गों में सामंजस्य स्थापित करता है। प्रत्येक व्यक्ति को वही कार्य करना चाहिए जिसके लिए वह प्राकृतिक रूप से सर्वाधिक समर्थ व उपयुक्त है। इसी तरह राज्य के तीनों वर्गों को भी अपने–अपने निर्दिष्ट कार्यक्षेत्र की परिधि में ही कार्य करना चाहिए। दूसरों के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप को प्लेटो व्यक्ति व राज्य दोनों के लिए अनिष्टकारी मानता है। इन तत्वों की उपस्थिति के अनुपात में ही प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता व क्षमता के अनुरूप आचरण करना चाहिए और दूसरों के कार्य क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इस प्रवृत्ति को प्लेटो न्याय की संज्ञा देता है। प्लेटो ने अपने न्याय के सिद्धान्त को एक नैतिक सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित किया न कि कानूनी सिद्धान्त के रूप में। उनका न्याय सिद्धान्त कार्य विशेषीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है जो प्रत्येक व्यक्ति को समाज के प्रति विशेष योगदान हेतु प्रेरित करता है।

1.2 अरस्तू के न्याय सम्बन्धी विचार (Aristotle's Concept of Justice)

प्लेटो के शिष्य अरस्तू के अनुसार, न्याय का सरोकार मानवीय सम्बन्धों के नियमन से है। अरस्तू का विश्वास था कि लोगों के मन में न्याय के बारे मे एक – जैसी धारणा के कारण ही राज्य अस्तित्व में आता है। इस मानकीय धारणा के रूप में न्याय समग्र सात्विकता को प्रतिबिंबित करता है। प्रयोग–क्षेत्र के आधार पर अस्स्तू ने न्याय के दो रूप प्रस्तुत किये –

1. **वितरणात्मक न्याय (Distributive Justice) -**
   अरस्तु वितरणात्मक न्याय के अन्तर्गत शक्ति एवं संरक्षण का वितरण व्यक्ति की योग्यता व योगदान के अनुरूप करने की बात कहता है। वह आनुपातिक समानता का पक्षधर है। समानता की इस अवधारणा के अनुसार लाभ एवं उत्तरदायित्व व्यक्ति की क्षमता व सामर्थ्य के अनुपात में ही होना चाहिए।

2. **सुधारात्मक न्याय (Corrective Justice) -**
   अरस्तु का सुधारात्मक न्याय से तात्पर्य ऐसे न्याय से है जो नागरिकों के अधिकारों की अन्य व्यक्तियों के द्वारा हनन की रोकथाम पर बल देता हो। सुधारात्मक न्याय में राज्य का उत्तरदायित्व है कि वह व्यक्ति के जीवन, सम्पत्ति, सम्मान और स्वतन्त्रता की रक्षा करें। इस प्रकार वितरणात्मक न्याय से प्राप्त मनुष्य के अधिकारों की रक्षा के लिये राज्य द्वारा की गयी व्यवस्था को सुधारात्मक न्याय की संज्ञा देता है।

1.3 मध्यकाल में न्याय सम्बन्धी विचार (The Concept of Justice in Medieval Period)

संत ऑगस्टाइन अपने ' ईश्वरीय राज्य ' के सिद्धान्त को प्रतिपादित करने में न्याय को इसका महत्त्वपूर्ण व अपरिहार्य तत्व माना है। वह अपनी रचना '' द सिटी ऑफ गॉड '' में लिखते हैं कि '' जिन राज्यों में न्याय विद्यमान नहीं हैं, वे केवल चोर उच्चक्कों की खरीद फरोख्त हैं। ''

> "Set justice aside them and what are kingdoms but fair thievish purchases."

ऑगस्टाइन परिवार, लौकिक राज्य और ईश्वरीय राज्य के सन्दर्भ में न्याय की विवेचना करते हैं। व्यक्ति द्वारा ईश्वरीय राज्य के प्रति कर्त्तव्य पालन को ही वह न्याय मानते हैं।

मध्यकाल में ही थॉमस एक्विनास कानून व न्याय को परस्पर सम्बन्धित मानते हुए न्याय की निम्नलिखित परिभाषा व्यक्त करते हैं–

''न्याय एक व्यवस्थित और अनुशासित जीवन व्यतीत करने तथा उन कर्त्तव्यों का पालन करने में निहित हैं, जिनकी व्यवस्था मांग करती है।''

थॉमस एक्विनास समानता को न्याय का मौलिक तत्व मानते हैं।

1.4 आधुनिक काल में न्याय सम्बन्धी धारणा (The Concept of Justice in Modern Period)

आधुनिक युग में डेविड ह्यूम (1711–76) ने यह मत व्यक्त किया कि न्याय का अर्थ नियमों की पालना मात्र है क्योंकि अनुभव से यह सिद्ध हो चुका है कि ये नियम 'सर्व–हित' का आधार है। अतः ' सर्व–हित ' या 'सार्वजनिक उपयोगिता' को न्याय का एकमात्र स्त्रोत होना चाहिए। मनुष्य की प्रकृति, तर्कबुद्धि या अनुबन्ध में इन नियमों का स्त्रोत ढूंढ़ने से कोई लाभ नहीं फिर उपयोगितावाद के प्रवर्त्तक जैरेमी बेंथम ने कहा कि 'प्राकृतिक कानून' सरीखी शब्दावली यथार्थ मूल्यों को धुँधला कर देती है। सार्वजनिक वस्तुओं, सेवाओं, इत्यादि का वितरण 'उपयोगिता' के आधार पर होना चाहिए जिसका सूत्र 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने न्याय को सामाजिक उपयोगिता का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते हुए यह तर्क दिया है कि मनुष्य अपने लिए सुरक्षा की कामना करते हैं, इसलिए वे ऐसे नैतिक नियम स्वीकार कर लेते हैं जिनमें दूसरे भी वैसी ही सुरक्षा अनुभव कर सकें। अतः उपयोगिता ही न्याय का मूल मन्त्र है।

वर्तमान में प्राकृतिक कानून या कोरी उपयोगिता पर आधारित न्याय की संकल्पना में विश्वास नहीं किया जाता। वस्तुतः प्राकृतिक कानून के नियमों, प्राकृतिक अधिकारों या सार्वजनिक उपयोगिता के स्वरूप के बारे में कोई सर्वसम्मत मान्यता विकसित नहीं हो पाई है। आज न्याय के सम्बन्ध में केवल ऐसी संकल्पना को स्वीकार कर सकते हैं जिसका निर्माण जीवन के सामाजिक–आर्थिक–राजनीतिक यथार्थ को सामने रखकर किया गया हो।

1.5 जॉन रॉल्स के न्याय सम्बन्धी विचार (The Concept of Justice of John Rawls)

जॉन रॉल्स ने अपनी पुस्तक '' ए थ्योरी ऑफ जस्टिस '' 'A Therory of Justice' में आधुनिक परिप्रेक्ष्य में सामाजिक न्याय का विश्लेषण किया है। रॉल्स न्याय के उस परम्परागत विचार से असन्तुष्ट है जो एक सामाजिक संस्था को न्यायप्रद बनाने को बल देते हैं। वे इस बात से भी असहमत हैं जिसमें परम्परागत न्याय के प्रतिपादक राजनीतिक एवं सामाजिक नीतियों को सही ठहराते हैं। उन्होंने उपयोगितावादियों के 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' पर आधारित न्याय की धारणा को त्रुटिपूर्ण बताते हुए कहा कि यह सिद्धान्त बहुमत की अल्पमत पर तानाशाही स्थापित करता है। रॉल्स संवैधानिक

लोकतंत्र में न्याय के दो मौलिक नैतिक सिद्धान्तों की प्रतिस्थापना करते हैं।

(1) अधिकतम स्वतन्त्रता स्वयं स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिये आवश्यक है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को व्यापक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, जो उस जैसे अन्य व्यक्तियों को भी उपलब्ध रहती है।

(2) व्यक्ति व राज्य द्वारा ऐसी सामाजिक व आर्थिक स्थितियाँ स्थापित की जाती हो, जो सबके लिए कल्याणकारी हो।

सबकी प्रगति के लिये वह **' अज्ञानता के पर्दे '** **(Veil of Ignorance)** के सिद्धान्त को स्थापित करते हैं। रॉल्स के अनुसार न्याय के नियमों का निर्माण करने से पूर्व मनुष्य अज्ञानता के पर्दे के पीछे है अर्थात वे अपनी उस मूल स्थिति में आ जाते है, जहां वे योग्यताओं, हितों, क्षमताओं आदि में समान है। इस स्थिति में न्याय की सर्वप्रथम मांग 'सबको समान स्वतंत्रता' तथा 'अवसरों की उचित समता' की होती है अर्थात जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं से जुड़ी वस्तुओं का बिना किसी भेदभाव के समान वितरण हो। इस नियम से विलग तभी हुआ जा सकता है, जब इससे 'हीनतम को अधिकतम' लाभ मिले।

1.6 भारतीय राजनीतिक चिन्तन में न्याय (Justice in Indian Political Thought)

प्राचीन भारतीय राजनीतिक व सामाजिक चिन्तन में विद्यमान धर्म की धारणा एवं प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में समानता है। धर्म की प्राचीन भारतीय अवधारणा व्यक्ति को समाज में उसके नियत स्थान एवं निर्दिष्ट कर्त्तव्यों का अभिज्ञान कराती है। यह अवधारणा तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में सामंजस्य स्थापित करने का मूल मंत्र है। 'स्वधर्म' का भाव व्यक्ति को उसके कर्त्तव्यों का बोध कराता है। व्यक्ति के अधिकारों व विशेष अधिकारों की उत्पति 'स्वधर्म' की पालना में निहित है। मनु, कौटिल्य, वृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज, विदुर व सोमदेव ने राज्य व्यवस्था में न्याय को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया हैं। जहाँ प्लेटो की न्याय की अवधारणा मूलतः राजनीतिक व सामाजिक थी वहीं भारतीय चिन्तन में न्याय के कानूनी रूप को स्वीकार कर लिया गया है। मनु व कौटिल्य दोनों ने ही न्याय की निष्पक्षता को राज्य व्यवस्था की आधारभूत प्रवृत्ति माना।

1.7 न्याय के विविध रूप (Different Types of Justice)

परम्परागत रूप में न्याय की दो धारणाऐं प्रचलित रही हैं– नैतिक और कानूनी किन्तु वर्तमान में सामाजिक व आर्थिक न्याय की धारणा भी महत्त्वपूर्ण हो गयी हैं।

1. **नैतिक न्याय (Moral Justice)** – न्याय की मूल धारणा नैतिकता पर आधारित है। जिसमें कुछ सर्व व्यापक अपरिवर्तनीय तथा अंतिम प्राकृतिक नियम है जो व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों को निरूपित करते हैं। इन प्राकृतिक नियमों और प्राकृतिक अधिकारों पर आधारित जीवन व्यतीत करना ही नैतिक न्याय है। जब व्यक्तियों का आचरण सदाचारी होता है, तो उसे नैतिक न्याय की अवस्था कहा जाता है, जबकि जब व्यक्ति का आचरण नैतिकता से परे होता है तो उसे नैतिक न्याय के विरुद्ध माना जाता है। भूतकाल से लेकर वर्तमान तक सभी चिन्तक सत्य, करूणा, अहिंसा, वचनबद्धता, उदारता आदि गुणों को नैतिक सिद्धान्त मानते हैं।
2. **कानूनी न्याय (Legal Justice)** – राजनीतिक व्यवस्था में कानूनी व्यवस्था को न्याय व्यवस्था भी कहा जाता हैं। इसमें वे सभी नियम और कानून शामिल हैं, जिनका नागरिक स्वाभाविक रूप से अनुसरण करते हैं। कानूनी न्याय की धारणा दो बातों पर बल देती हैं – (i) सरकार द्वारा निर्मित कानून न्यायोचित होने चाहिए। (ii) सरकार द्वारा ऐसे कानूनों को न्यायपूर्ण ढ़ंग से लागू करने चाहिए। कानूनों के उल्लंघन की स्थिति में निष्पक्ष दंड का प्रावधान किया जाना चाहिए।
3. **राजनीतिक न्याय (Political Justice)** – राजनीतिक न्याय समानता व समता पर आधारित होना चाहिए। एक राजव्यवस्था में सभी व्यक्तियों को समान अधिकार व अवसर प्राप्त होने चाहिए। राजनीतिक न्याय भेदभाव व असमानता को अस्वीकार करता हैं। राजनीतिक न्याय सभी व्यक्तियों के कल्याण पर आधारित होता हैं। ऐसा न्याय केवल प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं में ही प्राप्त किया जा सकता हैं। राजनीतिक न्याय प्राप्त करने के कुछ साधन उपलब्ध हैं –वयस्क मताधिकार, विचार भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, बिना किसी भेदभाव के सार्वजनिक पद पर आसीन होने का अधिकार व अवसर सभी नागरिकों का समान रूप से प्रदत्त होना राजनीतिक न्याय की प्राप्ति के लिये संविधान व संवैधानिक शासन को आवश्यक माना गया हैं। किसी विशेष वर्ग व व्यक्ति को विशेष अधिकार प्रदान न करना राजनीतिक न्याय का एक अन्य गुण हैं।
4. **सामाजिक न्याय (Social Justice)** – सामाजिक न्याय समाज में ऐसी व्यवस्था पर बल देता हैं जिसमें सामाजिक स्थिति के आधार पर व्यक्तियों में भेदभाव न हो और प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के पूर्ण अवसर प्राप्त हो। राज्य द्वारा व्यक्ति के अच्छे जीवन के लिये आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी चाहिए। राज्य व्यवस्था से अपेक्षा की जाती हैं कि वह नीति निर्माण करते समय ऐसे विधायी व प्रशासनिक नियमों का निर्माण करें, जो एक समतामूलक समाज निर्माण करने में सहायक हो। जॉन रॉल्स आदि ने

सामाजिक न्याय को विशेष महत्त्व दिया हैं। सामाजिक न्याय के अभाव में समानता व स्वतंत्रता जैसे मूल्यों का कोई अर्थ नहीं हैं।

5. **आर्थिक न्याय (Economic Justice) –** आर्थिक न्याय का उद्देश्य समाज में आर्थिक समानता स्थापित करना हैं, किन्तु व्यवहार में आर्थिक समानता ला पाना अभी तक संभव नहीं हुआ हैं। आर्थिक न्याय का सिद्धान्त इस बात पर बल देता हैं कि आर्थिक संसाधनों का वितरण करते समय राज्य व्यवस्था को व्यक्ति की आर्थिक स्थिति का ध्यान रखना चाहिए। आर्थिक न्याय धन–सम्पदा के आधार पर व्यक्तियों के बीच पायी जाने वाली असमानता की निन्दा करता हैं तथा गरीबी और अमीरी के बीच की खाई को कम करने पर बल देता हैं। आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए और आर्थिक न्याय के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत सम्पति के अधिकार को सीमित करने की आवश्यकता हैं। समाजवादी विचारक के अनुसार आर्थिक विषमता गरीब और अमीर के बीच की खाई को और अधिक गहरी कर देती हैं जिससे समाज में सदैव वर्ग संघर्ष की स्थिति बनने की संभावना रहती हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)

यद्यपि न्याय के मौलिक स्वरूप में काफी परिवर्तन हो चुका है लेकिन न्याय का लक्ष्य आज भी वहीं है जो सदियों पहले था। न्याय के सिद्धान्त का मुख्य सरोकार सामाजिक जीवन में लाभों और दायित्वों के तर्कसंगत वितरण से है। न्याय की चर्चा केवल ऐसे समाज में प्रासंगिक होगी जिसमें वस्तुओं, सेवाओं, अवसरों इत्यादि का अभाव हो, और जहाँ प्रचलित कानूनों, अधिकारों, सम्पत्ति–सम्बन्धों और नैतिक मान्यताओं की आलोचना करने और उनमें उपयुक्त परिवर्तनों की माँग करने की स्वतन्त्रता और गुंजाइश हो। कुछ ऐसी प्रणालियाँ भी हो सकती हैं जिनमें न्याय की चर्चा निरर्थक होगी। उदाहरण के लिए, शुद्ध सत्तावादी प्रणाली के अन्तर्गत सम्पूर्ण वितरण के मानदण्ड पहले से निर्धारित होते हैं वहाँ वितरण के नए मानदण्डों की तलाश करना अनावश्यक है। फिर, शुद्ध प्रतिस्पर्धात्मक प्रणाली के अन्तर्गत सारा वितरण बाजार–शक्तियों की परस्पर क्रिया से निर्धारित होता है। अतः वहाँ वितरण के नए मानदण्डों को मान्यता नहीं दी जाती है। अंततः काल्पनिक साम्यवादी समाज के अन्तर्गत अभाव की स्थिति ही समाप्त हो जाएगी, और 'प्रत्येक व्यक्ति को अपनी–अपनी आवश्यकता के अनुसार' प्राप्त होगा। अतः वहाँ न्याय के किसी वैकल्पिक सिद्धान्त पर विचार करना व्यर्थ होगा। जहां सबकी सभी आवश्यकताएं पूरी हो जाएंगी, वहाँ समाज से अन्याय की समस्या ही समाप्त हो जाएगी।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में न्याय की सर्वप्रथम व्याख्या यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने की।
- प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन में 'धर्म' का प्रयोग 'न्याय' के सादृश हुआ है।
- प्लेटो ने न्याय को मनुष्य का आत्मीय गुण माना है।
- प्लेटो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपना निर्दिष्ट कार्य करना और दूसरे के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप न करना ही न्याय है।
- अरस्तू के अनुसार न्याय का सरोकार मानवीय सम्बन्धों के नियमन से है।
- परम्परागत न्याय का सरोकार व्यक्ति के चरित्र से है, वहीं आधुनिक दृष्टिकोण का सरोकार सामाजिक न्याय से है।
- प्लेटो और अरस्तू परम्परागत न्याय के प्रमुख विचारक हैं।
- प्लेटो ने न्याय सिद्धान्त की व्याख्या अपनी रचना 'रिपब्लिक' में की हैं।
- प्लेटो न्याय के दो रूप मानता है –
  1.व्यक्तिगत न्याय
  2.सामाजिक या राज्य से सम्बन्धित न्याय
- अरस्तू ने न्याय के दो रूप प्रस्तुत किए –
  1.वितरणात्मक
  2.सुधारात्मक न्याय
- मध्यकाल में संत ऑगस्टाइन ने 'ईश्वरीय राज्य' में न्याय को अपरिहार्य तत्व माना है।
- थॉमस एक्विनास समानता को न्याय का मौलिक तत्व मानते हैं।
- जॉन रॉल्स ने अपने न्याय सम्बन्धी विचार अपनी पुस्तक 'ए थ्योरी ऑफ जस्टिस' (A Theory of Justice) में व्यक्त किए है।
- जॉन रॉल्स ने 'अज्ञानता के पर्दे ' (Veil of Ignorance) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।
  न्याय की धारणा के विविध रूप
  1.नैतिक न्याय
  2.कानूनी न्याय
  3.राजनीतिक न्याय
  4.सामाजिक न्याय
  5.आर्थिक न्याय
- डेविड ह्यूम ने नियमों की अनुपालना को ही न्याय माना है।
- जेरेमी बेंथम ने 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' को ही न्याय का मूल मंत्र माना है।
- जॉन स्टुअर्ट मिल ने न्याय को सामाजिक उपयोगिता का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व माना है।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में न्याय की व्याख्या सर्वप्रथम किस विचारक ने की थी?
   (अ) संत ऑगस्टाइन (ब) अरस्तू
   (स) प्लेटो (द) एक्वीनास ( )
2. वितरणात्मक न्याय की अवधारणा के प्रतिपादक है–
   (अ) प्लेटो (ब) अरस्तू
   (स) एक्वीनास (द) जॉन रॉल्स ( )
3. "जिन राज्यों में न्याय विद्यमान नहीं हैं, वे केवल चोर उच्चक्कों की खरीद फरोख़्त है", यह कथन है–
   (अ) संत ऑगस्टाइन (ब) कौटिल्य
   (स) अरस्तू (द) एक्वीनास ( )
4. न्याय की निष्पक्षता को राजव्यवस्था की आधारभूत प्रवृत्ति इनमें से कौन विचारक मानते हैं –
   (अ) बृहस्पति (ब) मनु एवं कौटिल्य
   (स) प्लेटो (द) आचार्य नरेन्द्र देव ( )
5. कानून के उल्लंघन पर दिया जाने वाला दण्ड न्याय के किस रूप को परिलक्षित करता है –
   (अ) नैतिक न्याय (ब) राजनीतिक न्याय
   (स) आर्थिक न्याय (द) कानूनी न्याय ( )

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. न्याय के भारतीय प्रतिपादक कौन–कौन हैं ?
2. प्लेटो ने अपने किस ग्रन्थ में न्याय सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किये हैं ?
3. प्लेटो ने अपने न्याय सिद्धान्त में समाज की कितनी श्रेणियाँ बताई है ?
4. रिपब्लिक पुस्तक के रचियता कौन है ?
5. अरस्तू ने न्याय के कितने प्रकार बताये है ?
6. अरस्तू का वितरणात्मक न्याय सिद्धान्त किस बात पर बल देता है ?
7. अरस्तू का सुधारात्मक न्याय का उद्देश्य क्या है ?
8. मध्यकाल में न्याय के दो प्रतिपादक कौन थे ?
9. आर्थिक विषमता की बात किस विचारक ने कही है ?
10. 'अज्ञानता के पर्दे' सिद्धान्त का प्रतिपादक कौन हैं ?
11. जॉन रॉल्स ने सामाजिक न्याय की स्थापना के लिये किस सिद्धान्त की स्थापना की है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. प्लेटो के न्याय से आप क्या समझते हैं ?
2. अरस्तू के न्याय संबंधी विचारों पर टिप्पणी कीजिए।
3. न्याय के परम्परागत व आधुनिक दृष्टिकोण में तुलना कीजिए।
4. न्याय के सार्वभौमिक मूल्यों की वर्तमान समय में क्या प्रासंगिकता है ?बताइये।
5. उपयोगितावादियों द्वारा दी गई न्याय की अवधारणा परम्परागत दृष्टिकोण से किस प्रकार भिन्न है ?
6. जॉन रॉल्स के न्याय सम्बन्धी विचार संक्षेप में लिखिए।
7. न्याय के सार्वलौकिक और स्थिर तत्वों पर टिप्पणी कीजिए।
8. "आर्थिक न्याय के अभाव में सामाजिक व राजनीतिक न्याय अर्थहीन है"। स्पष्ट कीजिए।
9. "न्याय मूलरूप से एक नैतिक सिद्धान्त हैं, जिसकी अलग–अलग विचारकों ने अपने–अपने ढ़ंग से व्याख्या की हैं।" स्पष्ट कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. न्याय से आप क्या समझते हैं?न्याय के परम्परागत सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
2. प्लेटो व अरस्तू के न्याय पर विचारों की समीक्षा कीजिए।
3. आपकी राय में न्याय की भारतीय व पाश्चात्य अवधारणा में क्या भिन्नता/साम्यता है, का विवेचन कीजिए।
4. न्याय के विविध रूपों को स्पष्ट कीजिए।

बहुचयनात्मक प्रश्नों के उत्तर

1. स 2. ब 3. अ 4. ब 5. द

2. शक्ति, सत्ता और वैधता
(Power, Authority and Legitimacy)

शक्ति (Power)

शक्ति राजनीति विज्ञान की मूल अवधारणा रही है क्योंकि राजनीति हमारे समाज का वह क्षेत्र है, जहाँ सभी के लिए नियम बनाए जाते हैं, सभी के लिए निर्णय लिए जाते हैं तथा अधिकारों एवं कर्तव्यों का आवंटन किया जाता है। इन सब कार्यों को करने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। लेकिन शक्ति का स्वरूप क्या है? उसकी प्रवृत्ति क्या है? समाज में शक्ति का स्रोत क्या है? आदि तत्वों पर एकरूपता का अभाव है। जहाँ प्राचीन समय में सैनिक शक्ति महत्त्वपूर्ण मानी जाती थी, वहीं इस समय राजनीतिक शक्ति पर विशेष जोर दिया जाता है। प्राचीन भारतीय चिन्तन में मनु, कौटिल्य, शुक्र आदि ने शक्ति के विविध तत्वों पर प्रकाश डाला है, वहीं यूरोपीय चिन्तन में मेकियावली को प्रथम शक्तिवादी विचारक माना जाता है। उसके बाद इंग्लैण्ड के टामस हॉब्स ने अपनी पुस्तक 'लेवियाथन' में 1651 ई. में राज्य और राजनीति के क्षेत्र में शक्ति के महत्त्व को रेखांकित किया। लेकिन एक राजनीतिक अवधारणा के रूप में शक्ति पर विशेष जोर आधुनिक राजनीति विज्ञान की एक विशेषता है। आधुनिक राजनीति विज्ञान के प्रमुख प्रणेता चार्ल्स मेरियम ने शक्ति के विविध पक्षों की व्याख्या की। उसके बाद शक्ति की अवधारणा को स्पष्ट करने में कैटलिन, लासवेल, कैप्लान, मार्गेन्थाऊ आदि विद्वानों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। कैटलिन ने "राजनीति विज्ञान को शक्ति के विज्ञान" के रूप में परिभाषित करते हुए कहा कि राजनीति प्रतियोगिता का ऐसा क्षेत्र है, जिसमें शक्ति प्राप्ति के लिए व्यक्तियों के बीच निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। कैटलिन की ही भांति लासवेल की भी मान्यता है कि राजनीति विज्ञान का दायरा शक्ति से अपरिहार्य रूप से जुड़ा हुआ है। समाज में एक "प्रक्रिया या गतिविधि के रूप में शक्ति" कैसे क्रियाशील रहती है, हैराल्ड लासवेल के अनुसार यही राजनीति विज्ञान की मुख्य विषयवस्तु है। इसलिए लासवेल ने अपनी पुस्तक का नाम ही "कौन, कब, क्या, कैसे प्राप्त करता है (**Politics: Who gets, what, when how**)" | मेकाइवर ने अपनी पुस्तक " द वैब ऑफ गवर्नमेण्ट " में शक्ति को परिभाषित करते हुए लिखा कि, "यह किसी भी संबंध के अन्तर्गत ऐसी क्षमता है, जिसमें दूसरों से कोई काम लिया जाता है या आज्ञापालन कराया जाता है। "

आर्गेन्सकी के शब्दों में "शक्ति दूसरे के आचरण को अपने लक्ष्यों के अनुसार प्रभावित करने की क्षमता है।"

राबर्ट बायर्सटेड के अनुसार, "शक्ति बल प्रयोग की योग्यता है न कि उसका वास्तविक प्रयोग।"

शक्ति की परिभाषाएं यह संकेत देती है कि जिसके पास शक्ति है, वह दूसरों के कार्यों, व्यवहारों एवं विचारों को अपने अनुकूल बना सकता है। वहीं दूसरी ओर समकालीन सामाजिक चिन्तन में शक्ति का अभिप्राय माना जाता है – कुछ करने की शक्ति अर्थात् जब कोई व्यक्ति स्वयं अपने लिए अथवा समाज के लिए कुछ कार्य करता है तब वह इसी अर्थ में शक्ति का प्रयोग करता है।

2.1 शक्ति का बल और प्रभाव से भेद (The Difference Between Power and Force)

सामान्यतः शक्ति और बल को एक ही माना जाता है, लेकिन वास्तव में दोनों में अन्तर है। शक्ति प्रछन्न बल है और बल प्रकट शक्ति। शक्ति में बल और प्रभाव दोनों निहित होते है। जब शक्ति व बल में अन्तर किया जाता है तो शक्ति अप्रकट होती है जबकि बल उसका प्रकट रूप है। जब शक्ति व प्रभाव में अन्तर किया जाता है तो प्रभाव अप्रकट होता है तब शक्ति प्रकट होती है। शक्ति अप्रकट तत्व है लेकिन बल प्रकट तत्व है, जैसे – पुलिस के पास अपराधी को दण्डित करने की शक्ति निहित रहती है लेकिन जब वह वास्तव में उसे दण्ड देती है जो कि आर्थिक दण्ड से शारीरिक दण्ड तक कुछ भी हो सकता है तब वह बल का प्रयोग करती है अथवा शिक्षक के पास विद्यार्थी को कक्षा से बाहर निकालने की शक्ति निहित रहती है और जब वह वास्तव में ऐसा करता है तब उसकी शक्ति बल में बदल जाती है।

इसी तरह शक्ति और प्रभाव में भी अनेक समानताएं और असमानताएं होती है। दोनों ही एक–दूसरे को सबलता प्रदान करते हैं। दोनों ही औचित्यपूर्ण हो जाने के पश्चात् ही प्रभावशाली होते हैं प्रभाव शक्ति उत्पन्न करता है तथा शक्ति प्रभाव को। लेकिन दोनों में अन्तर भी होता है। शक्ति दमनात्मक होती है और उसके पीछे कठोर भौतिक बल का प्रयोग होता है, जबकि प्रभाव मनोवैज्ञानिक होता है। शक्ति का प्रयोग किसी के खिलाफ उसकी इच्छा के विरुद्ध भी हो सकता है लेकिन प्रभाव सम्बन्धात्मक होता है और इसकी सफलता का आधार प्रभावित व्यक्ति की सहमति पर निर्भर करता है। इसके अलावा शक्ति अप्रजातांत्रिक तत्व है जबकि प्रभाव पूर्णतया प्रजातांत्रिक है। शक्ति कितनी भी अधिक हो उसे स्थिरता हेतु प्रभाव की आवश्यकता होती है लेकिन प्रभाव को अपने अस्तित्व के लिए शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती है। जैसे अंग्रेज भारतीय जनता से शक्ति के माध्यम से अपने आदेशों की पालना करवाते थे जबकि महात्मा गाँधी प्रभाव का प्रयोग करते थे।

2.2 शक्ति के रूप (Kinds of Power)

राजनीति विज्ञान में शक्ति का बहुत विस्तृत प्रयोग होता है, जिन्हें हम शक्ति के विविध आयाम कह सकते हैं। मोटे रूप में तीन तरह की शक्ति राजनीतिक शक्ति, आर्थिक शक्ति और विचारधारात्मक शक्ति की पहचान कर सकते हैं।

1. **राजनीतिक शक्ति** – राजनीतिक शक्ति से तात्पर्य है समाज के मूल्यवान संसाधनों जैसे पद, प्रतिष्ठा, कर, पुरस्कार, दण्ड आदि का समाज के विभिन्न समूहों में आवंटन । सामान्यतः राजनीतिक शक्ति का प्रयोग सरकार के विभिन्न अंग व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका करते हैं, जिन्हें हम शक्ति के औपचारिक अंग कहते हैं। इनके अलावा विभिन्न दबाव समूह, राजनीतिक दल और प्रभावशाली व्यक्ति भी सार्वजनिक नीतियों को प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। अतः इन्हें हम शक्ति के अनौपचारिक अंग कहते हैं।
2. **आर्थिक शक्ति** – आर्थिक शक्ति का अर्थ है उत्पादन के साधनों एवं धन सम्पदा पर स्वामित्व। आर्थिक शक्ति अनेक तरह से राजनीतिक शक्ति को प्रभावित करती है। ऐसा माना जाता है कि जो आर्थिक रूप से शक्तिशाली होते हैं वे राजनीतिक रूप से भी शक्तिशाली होते हैं लेकिन आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति के आपसी संबंध किस तरह के है, इसे लेकर उदारवाद और मार्क्सवाद में अन्तर है। उदारवाद के अनुसार राजनीतिक शक्ति को निर्धारित करने वाले समाज में अनेक तत्व होते हैं, जिनमें आपस में अन्तर्निभरता रहती है और अकेला आर्थिक तत्व ही राजनीति शक्ति को निर्धारित नहीं करता है। दूसरी ओर मार्क्सवाद का मानना है कि सब तरह की शक्ति आर्थिक शक्ति की नींव पर टिकी होती है एवं आर्थिक शक्ति ही समाज में राजनीतिक शक्ति को निर्धारित करती है। यद्यपि पूर्व सोवियत संघ जैसे साम्यवादी राज्य में निजी सम्पत्ति और उत्पादन के निजी स्वामित्व पर रोक के बावजूद राजनीतिक रूप से ताकतवर एक नया वर्ग अस्तित्व में बना रहा, जिससे स्पष्ट है कि मार्क्सवाद की यह धारणा सत्य नहीं है।
3. **विचारधारात्मक शक्ति** – विचारधारा का अर्थ है विचारों का समूह जिसके आधार पर हमारे दृष्टिकोण का विकास होता है। यह लोगों के सोचने, समझने के ढ़ंग को प्रभावित करती है। यह विचारधारा किसी शासन व्यवस्था को लोगों की दृष्टि में उचित ठहराती है, इसलिए उसे वैधता प्रदान करती है। भिन्न–भिन्न देशों में भिन्न–भिन्न प्रकार की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्थाएं प्रचलित है और इन्हें उचित ठहराने के लिए उदारवाद, साम्यवाद, समाजवाद, एकात्म मानववाद इत्यादि विचारधाराओं का सहारा लिया जाता है। लेकिन कोई विचार किसी विशेष सामाजिक परिस्थिति में जन्म लेता है। कालान्तर में परिस्थिति बदल जाती है और तर्क की दृष्टि से यह विचार पुराना पड़ जाता है। परन्तु कुछ लोग उस विचार को बनाए रखना चाहते हैं, क्योंकि उसके साथ उनके स्वार्थ जुड़े रहते हैं। यह वर्ग इसे बचाए रखने के लिए हिंसा का प्रयोग भी करते हैं। मार्क्सवाद साम्यवाद के नाम पर पूर्व सोवियत संघ, कंबोडिया आदि देशों में हजारों लाखों लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया। माओवादी चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति के नाम पर लाखों लोगों का सफाया कर दिया गया। भारत में माओवादी–नक्सलवादी इसी विचारधारा से प्रेरित होकर हिंसक कार्यवाही में संलग्न है। कई बार लोकतांत्रिक देशों में भी कुछ लोग अपनी विचारधारा के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए हिंसा की कार्यवाही में संलग्न हो जाते हैं, जैसे – भारत के केरल राज्य में मार्क्सवादी कार्यकर्ता अपने वैचारिक विरोधियों के विरुद्ध हिंसात्मक कार्यवाहियों में संलग्न है।

2.3 शक्ति की संरचना (Structure of Power)

शक्ति की परम्परागत संकल्पना ऐसी क्षमता के रूप में की जाती है, जिससे एक पक्ष दूसरे पक्ष पर अपना नियंत्रण स्थापित करता है। ऐसे में क्या समाज में ऐसे समूहों की पहचान कर सकते हैं जो नियमित रूप से किन्हीं अन्य पर शक्ति का प्रयोग करते हो। इस बारे में मुख्यतः चार सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है।

वर्ग प्रभुत्व का सिद्धान्त – वर्ग प्रभुत्व का सिद्धान्त जो कि मार्क्सवाद की देन है, जिसकी मूल मान्यता है कि आर्थिक आधार पर समाज दो विरोधी वर्ग में बंटा होता है – आर्थिक रूप से ताकतवर बुर्जुआ वर्ग तथा आर्थिक रूप से दुर्बल – सर्वहारा वर्ग। इन दोनों विरोधी वर्गों के बीच समाज में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। अतः इनका मानना है कि "अब तक का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है।" मार्क्सवाद के अनुसार प्रत्येक वर्गीय समाज मूलतः शक्ति–संरचना होता है, जिसमें प्रभु वर्ग, राजनीति, अर्थव्यवस्था, समाज, नैतिकता एवं संस्कृति के हर स्तर पर ऐसा वर्चस्व कायम रहता है, जिसे पराधीन वर्ग अपनी 'स्वाभाविक नियति' के रूप में आत्मसात कर लेते हैं।

विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त – विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त के अनुसार भी समाज शक्ति के आधार पर दो वर्गों – विशिष्ट वर्ग जो शक्तिशाली है तथा सामान्य वर्ग जिसके ऊपर शक्ति प्रयुक्त होती है, में बंटा होता है। लेकिन इस सिद्धान्त के अनुसार यह वर्ग विभाजन केवल आर्थिक आधार पर नहीं होकर इसके अनेक आधार जैसे कुशलता, आनुवंशिकता, संगठन क्षमता, बुद्धिमता, प्रबन्ध क्षमता, नेतृत्व क्षमता आदि होते हैं इन योग्यताओं के आधार पर प्रत्येक देश और प्रत्येक प्रकार की शासन व्यवस्था में समाज का छोटा वर्ग उभरकर आता है जो शक्तिशाली होता है और सामान्यजन पर अपनी शक्ति का प्रयोग करता है। जैसे – देश के राजनेता, प्रशासक, उद्योगपति, वकील, प्रोफेसर, डॉक्टर आदि मिलकर एक वर्ग का निर्माण करते हैं, जो हमेशा शक्तिशाली बने रहते हैं, भले ही औपचारिक रूप से किसी भी दल की सरकार हो। इटली के विल्फ्रड परेटो (द माइण्ड एण्ड सोसायटी), गीतानो मोस्का (द

रूलिंग क्लास), जर्मनी के राबर्ट मिशेल्स (पॉलिटिकल पार्टीज) नामक पुस्तकों में इस सिद्धान्त की व्याख्या की।

नारीवादी सिद्धान्त – नारीवादी सिद्धान्त का मानना है कि समाज में शक्ति के विभाजन का आधार लैंगिक है। समाज की सारी शक्ति पुरूष वर्ग के पास है जो महिलाओं के ऊपर अपनी शक्ति का प्रयोग करते हैं। अतः इस आधार पर यूरोप में नारी मुक्ति के आन्दोलन प्रारम्भ हुए जो पुरुषों के पितृसत्तात्मक प्रभुत्व का अन्त करना चाहते हैं।

बहुलवादी सिद्धान्त – शक्ति विभाजन का चौथा सिद्धान्त बहुलवादी सिद्धान्त है, जो उपर्युक्त तीनों से ही भिन्न है। वर्ग प्रभुत्व, विशिष्ट वर्गवाद एवं नारीवाद यह दावा करते हैं कि शक्ति का प्रयोग समाज को दो वर्गों – शक्तिशाली एवं शक्तिहीन में बांटता है, परन्तु बहुलवादी सिद्धान्त के अनुसार समाज में सारी शक्ति किसी एक वर्ग के हाथ में न होकर अनेक समूहों में बंटी होती है। उदार लोकतांत्रिक व्यवस्था में इन समूहों के बीच सतत् सौदेबाजी चलती रहती है। अतः शक्ति के आधार पर समाज में शोषणकारी व्यवस्था नहीं होती है। यह भारतीय अवधारणा है, जो शोषण अथवा वर्ग संघर्ष पर आधारित नहीं होकर उत्तरदायित्व आधारित है, जिसकी मान्यता है कि शक्तिशाली होने का अर्थ है सार्वजनिक हित के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करना। इसमें शक्तिहीन को शक्तिसम्पन्न बनाकर समरस समाज की स्थापना पर जोर दिया गया है।

सत्ता (Authority)

जहाँ प्राचीन और मध्यकालीन राजतंत्रात्मक व्यवस्थाओं में शक्ति महत्त्वपूर्ण अवधारणा थी वहीं आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था में सत्ता की अवधारणा कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। शक्ति प्रत्येक जगह सही नहीं हो सकती, अनेक बार हम शक्ति के भय के कारण मजबूरी में उसे स्वीकार करते हैं। सत्ता किसी व्यक्ति, संस्था, नियम या आदेश का ऐसा गुण है, जिसके कारण उसे सही मानकर स्वेच्छा से उसके निर्देशों का पालन किया जाता है। जब हम किसी बलशाली के आदेश की पालना करते हैं तब उसकी आज्ञा पालन का आधार शक्ति होता है जबकि हम चौराहे पर यातायात पुलिस के सिपाही के इशारे पर रूकते है तब वह सत्ता का प्रतीक होता है। इस तरह शक्ति के साथ जब वैधता जुड़ती है तब वह सत्ता कहलाती है। दूसरे शब्दों में वैध शक्ति ही सत्ता है। बायर्सटेड ने इसे परिभाषित करते हुए कहा कि "सत्ता शक्ति के प्रयोग का संस्थात्मक अधिकार है।"

हेनरी फेयोल के अनुसार, "सत्ता आदेश देने का अधिकार और आदेश का पालन करवाने की शक्ति है।"

2.4 सत्ता पालन के आधार (Basis of Following the Authority)

सत्ता के बारे में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि व्यक्ति सत्ता का पालन क्यों करते हैं। प्रमुख रूप से सत्ता पालन के निम्न आधार है–

विश्वास – सत्ता पालन का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व है अधिनस्थों का सत्ताधारी के प्रति विश्वास। यह विश्वास जितना गहरा होगा सत्ताधारी के आदेशों की पालना उतनी ही सरलता से होगी और इसके लिए उसे शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होगी।

एकरूपता – विचारों और आदर्शों की एकरूपता भी सत्ता का महत्त्वपूर्ण आधार होता है। वैचारिक एकरूपता स्वतः ही आज्ञापालन की स्थिति को पैदा करती है। इसी कारण राजव्यवस्थाएं उदारवाद, समाजवाद आदि विचारधारों का सहारा लेती है।

लोकहित – लोक कल्याण भी सत्ता का महत्त्वपूर्ण आधार है। हम राज्य के अधिकांश कानूनों की पालना केवल दण्ड शक्ति के दबाव में नहीं करते अपितु इसलिए करते हैं कि वे लोकहित को बढ़ावा देते है, जैसे – कर जमा करवाना, यातायात नियमों की पालना करना आदि।

दबाव – अनेक बार दबाव एवं शक्ति का भी सत्ता पालन के लिए प्रयोग करना होता है। प्रत्येक व्यवस्था में कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिन पर सत्ता के अन्य आधारों का कम प्रभाव रहता है और जो दमन एवं दबाव की भाषा ही समझते हैं।

2.5 सत्ता के रूप (Kinds of Authority)

प्रसिद्ध समाज वैज्ञानिक मैक्स वैबर ने सत्ता के निम्न तीन रूप बताए है–

1. परम्परागत सत्ता – इस सत्ता का आधार परम्पराएं एवं इतिहास होता है। इसमें यह माना जाता है कि जो व्यक्ति या वंश परम्परा के अनुसार सत्ता का प्रयोग कर रहा है, सत्ता उसी के पास बनी रहनी चाहिए। इस सत्ता में तर्क एवं बुद्धिसंगतता का अभाव रहता है। घर में वृद्धजनों की सत्ता परम्परागत सत्ता का उदाहरण है।
2. करिश्माई सत्ता – यह सत्ता किसी व्यक्ति के व्यक्तिगत गुणों और चमत्कार पर आधारित है। इसमें जनता उस व्यक्ति के इशारे पर बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार रहती है। इसमें सत्ता का आधार भावनाएं होती है, जैसे – महात्मा गाँधी, पं. नेहरु, इन्दिरा गाँधी, अटल बिहारी वाजपेयी आदि करिश्माई सत्ता के उदाहरण है।
3. कानूनी, तर्कसंगत सत्ता – इसका आधार पद होता है व्यक्तित्व नहीं। उस पद में कानूनन जो सत्ता निहित है उस पद को प्राप्त करने वाला व्यक्ति उस सत्ता का प्रयोग करता है। जैसे शिक्षक की सत्ता, कलेक्टर की सत्ता, प्रधानमंत्री की सत्ता आदि। यदि कानूनी सत्ता का जो प्रयोग कर रहा है उसका व्यक्तित्व चमत्कारिक हो तब वह असीमित सत्ता का प्रयोग कर सकता है। जैसे प्रधानमंत्री में कानूनन समान सत्ता निहित होती है लेकिन उस पद पर बैठने वाले व्यक्ति के गुणों के आधार पर प्रयोग की सीमाएं अलग–अलग दिखती है।

वेबर ने यह स्वीकार किया कि इनमें से किसी प्रकार की सत्ता शुद्ध रूप में देखने को नहीं मिलती है।

इस प्रकार सत्ता के बिना सभ्य समाज की कल्पना नहीं की जा सकती, लेकिन प्रत्येक समाज सत्ता के ऊपर कुछ सीमाएं निर्धारित करता है, जिससे कि सत्ता का मनमाना प्रयोग नहीं किया जा सके। सत्ता को देश के संवैधानिक कानूनों तथा वहाँ की संस्कृति, मूल्यों, परम्पराओं व नैतिक अवधारणाओं आदि के सापेक्ष रहकर ही कार्य करना होता है।

वैधता (**Legitimacy**)

इस शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के Legitmus से हुई, जिसका अर्थ होता है – Lawful अर्थात् वैधानिक। वैधता अथवा औचित्यपूर्णता का लम्बा इतिहास रहा है। प्लेटो ने न्याय सिद्धान्त द्वारा व अरस्तु ने संवैधानिक शासन द्वारा शासक की वैधता को सिद्ध करने का प्रयास किया। इससे पूर्व भारतीय दर्शन में भी इसका अप्रत्यक्ष वर्णन मिलता है। मनु स्मृति, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजा या स्वामी को सभी अधिकार कुछ कर्तव्यों के निर्वहन के साथ प्रदान किए गए हैं तथा प्रजा पालन व जनकल्याण को उनके मूल कर्त्तव्य के रूप में पहचान दी गई है। मध्यकाल में राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त को राज्य की वैधता का आधार माना गया। हॉब्स, लॉक एवं रूसों ने दैवीय उत्पत्ति के स्थान पर लोगों की सहमति को राज्य की वैधता का आधार बनाया। आधुनिक लोकतांत्रिक शासन में जनता की सहभागिता को राज्य की वैधता का प्रमाण माना जाता है। वास्तव में वैधता उस कारण की ओर इशारा करती है, जिन कारणों से हम किसी भी सत्ता को स्वीकार करते हैं। इसका अर्थ उस सहमति से है जो लोगों द्वारा राजनीतिक व्यवस्था को दी जाती है। यदि किसी राजनीतिक व्यवस्था को लोगों की ऐसी स्वीकृति प्राप्त नहीं होती तब वह व्यवस्था अधिक समय तक अस्तित्व में नहीं रह सकती है। मतदान, जनमत, संचार के साधन, राष्ट्रवाद आदि वे साधन है, जिनके माध्यम से वैधता को प्राप्त किया जा जाता है। वैधता ग्रीन के इस कथन को सिद्ध करती है कि "इच्छा, न कि बल राज्य का आधार होता है।"

वैधता वास्तव में शक्ति और सत्ता के बीच की कड़ी है। कोई भी शासक शक्ति के आधार पर व्यक्ति को बाहरी रूप से नियंत्रित कर सकता है लेकिन वैधता के आधार पर वह लोगों के हृदय पर शासन कर सकता है। इसी कारण लोकतंत्र और अधिनायकतंत्र में अन्तर करने के लिए यह तर्क दिया जाता है कि लोकतंत्र का प्रधान लक्षण वैधता है जबकि अधिनायकतंत्र मुख्यतः शक्ति या बल प्रयोग पर आधारित होता है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था को वैधता बनाए रखने के प्रयत्न करने होते हैं क्योंकि राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। यदि राजनीतिक व्यवस्था अपने आपको इन परिवर्तनों के अनुरूप नहीं बना पाती तब उसकी वैधता प्रभावित होती है। प्राचीन काल में राजतंत्रीय व्यवस्था थी, कालान्तर में लोकतंत्रीय तत्वों का उदय हुआ। जिन राजनीतिक व्यवस्थाओं ने अपने आपको लोकतंत्रीय तत्वों के अनुरूप ढाल लिया, उनकी वैधता बनी रही लेकिन जो ऐसा नहीं कर पाये, वहाँ क्रान्ति की स्थिति बनी। साम्यवादी व्यवस्था अपने आपको समयानुकूल नहीं बदल सकी इसलिये आज इसकी कोई वैधता नहीं है। इसी तरह नवीन अवस्थाओं को कई बार परम्परागत संस्थाएं एवं समूह भी स्वीकार नहीं करते क्योंकि ऐसा करने से इनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में यह पूरी ताकत के साथ नवीन व्यवस्था को चुनौती देते हैं। इसी प्रकार नवीन समूहों के राजनीति में प्रवेश भी वैधता को प्रभावित करते हैं। यदि इनके प्रवेश को पुराना वर्ग स्वीकार कर ले तब तो वैधता को बढ़ावा मिलेगा लेकिन यदि वे बाधा पैदा करते हैं तब वैधता को बाधा पहुँचती है। इसके अलावा अनेक बार राजनीतिक व्यवस्थाओं से अत्यधिक आकांक्षाएं भी वैधता को प्रभावित करती है। जब राजनीतिक व्यवस्थाएं जनसामान्य की इन आशाओं को पूरा नहीं कर पाती तब लोग उनके खिलाफ क्रान्ति एवं तख्तापलट को तैयार हो जाते हैं। अनेक एशियाई–अफ्रीकी देशों में ऐसे तख्तापलट होते रहे हैं। ऐसे में राजनीतिक व्यवस्थाएं अपने आपको नवीन व्यवस्था के अनुरूप ढालकर, परम्पराओं की रक्षा कर तथा व्यक्तिगत गुणों के आधार पर वैधता के संकट का सामना करने का प्रयास करती है।

इस तरह शक्ति, सत्ता एवं वैधता की अवधारणाएं एक–दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी है। शक्ति के बिना समाज में शान्ति, व्यवस्था, न्याय और खुशहाली की स्थापना नहीं की जा सकती। परन्तु शक्ति की भूमिका सबसे ज्यादा वहाँ प्रभावशाली सिद्ध होती है, जहाँ वह केवल बल प्रयोग का साधन नहीं रह जाती बल्कि वैधता के साथ जुड़कर सत्ता का रूप धारण कर लेती है। समाज में व्यवस्था कायम रखने के लिए वैधता और शक्ति एक–दूसरे के पूरक है। यदि हम शक्ति की तुलना नंगी तलवार से करे तो सत्ता म्यान में ढकी हुई तलवार है, जो जरूरत पड़ने पर ही बाहर निकाली जाती है। वास्तव में, जब शासक की शक्ति सत्ता का रूप लेती है तब वह उसका अधिकार बन जाती है और चूंकि सत्ता में वैधता जुड़ी होती है, इसलिए नागरिकों के लिए आज्ञापालन उनका कर्तव्य बन जाता है।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- शक्ति, राजनीति विज्ञान की केन्द्रीय अवधारणा है।
- शक्ति के विविध रूप – राजनीतिक, आर्थिक व विचारधारात्मक शक्ति है।
- शक्ति की संरचना के चार सिद्धान्त – वर्ग प्रभुत्व का सिद्धान्त, विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त, नारीवादी सिद्धान्त, बहुलवादी सिद्धान्त।
- सत्ता पालन के आधार – विश्वास, एकरूपता, लोकहित व दबाव है।
- सत्ता के तीन रूप है – परम्परागत सत्ता, करिश्माई सत्ता व कानूनी तर्क संगत सत्ता।
- वैधता– शक्ति व सत्ता के बीच की कड़ी है।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. " राजनीति : कौन, कब, क्या, कैसे प्राप्त करता है " पुस्तक के लेखक है –
   (अ) कैटलिन (ब) लासवेल
   (स) मेकाइवर (द) लास्की ( )
2. "शक्ति दूसरे के आचरण को अपने लक्ष्य के अनुसार प्रभावित करने की क्षमता है "यह कथन किसका है–
   (अ) आर्गेन्सकी (ब) लासवेल
   (स) बायर्सटेड (द) थॉमस हाब्स ( )
3. " सत्ता आदेश पालन करने का अधिकार और आदेश पालन करवाने की शक्ति है।"
   (अ) प्लेटो (ब) मोस्का
   (स) हेनरी फेयोल (द) मैकाले ( )
4. इनमें से कौनसा सत्ता का रूप नहीं है –
   (अ) परम्परागत सत्ता (ब) करिश्माई सत्ता
   (स) कानूनी तर्कसंगत सत्ता (द) सैनिक सत्ता ( )
5. लैटिन भाषा के शब्द Legitimus का अर्थ है –
   (अ) वैधानिक (ब) हानिकारक
   (स) सत्ता (द) शक्तिशाली ( )

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. टॉमस हॉब्स की प्रसिद्ध पुस्तक का नाम बताइए।
2. राजनीति विज्ञान को शक्ति का विज्ञान कौनसा विद्वान् मानता है ?
3. शक्ति के कोई दो रूप लिखिए।
4. सत्ता की स्वीकृति या पालन के दो लोकप्रिय आधार बताइए।
5. वैधता प्राप्ति के दो साधन कौनसे हो सकते हैं ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. वैचारिक शक्ति से आप क्या समझते हैं ?
2. शक्ति के संदर्भ में ' नारीवादी सिद्धान्त ' क्या है ?
3. लोकहितकारी सत्ता को समझाइए।
4. मेक्सवेबर ने सत्ता के कितने रूप बताये है, लिखिए।
5. शक्ति के वर्गीय सिद्धांत को स्पष्ट कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. शक्ति की अवधारणा पर एक लेख लिखिए।
2. सत्ता क्या है ? इसके विविध रूप बताते हुए स्पष्ट कीजिए कि हम इसका पालन क्यों करते हैं।
3. शक्ति, सत्ता एवं वैधता में अन्तर्सम्बन्धों की समीक्षा कीजिए।

बहुचयनात्मक प्रश्नों के उत्तर

1. ब 2. अ 3. स 4. द 5. अ

3. धर्म (Religion)

स्वामी विवेकानन्द ने आध्यामिकता और बाह्य औपचारिक धर्म में अन्तर करते हुए कहा हैं कि ''धर्म मनुष्य में पहले से व्याप्त देवत्व व आध्यात्मिकता का विस्तार मात्र हैं।'' सभी धर्म गुरुओं और अध्यात्म को समझने वाले विद्वानों ने अपने मत एवं विचार के आधार पर धर्म और अध्यात्म की परिभाषा प्रस्तुत की है, कन्फूशियश, मोजेस, पाईथागोरेस, बुद्ध, महावीर स्वामी, ईसा मसीह, मोहम्मद पैगम्बर, मार्टिन लूथर, केल्विन, गुरु नानक सभी ने ''मनुष्य में दिव्यता'' का संदेश दिया है। ऐतिहासिक रूप से विश्व के विभिन्न भागों में काल, स्थान व संस्कृति के अनुरूप कई धर्मों का उद्‌भव व विकास हुआ। समय, स्थान और सांस्कृतिक व आध्यात्मिक परिस्थितियों के परिवर्तन से धर्मों में भी परिवर्तन आये। बाहरी रूप से सभी धर्मों ने मूलतः एकता के बुनियादी तथ्यों एवं मूल्यों की बात की है। वर्तमान समस्या अलग–अलग धर्मों और मतों में एकता स्थापित करने की चेष्टा हैं। डॉ॰ सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने आध्यात्मिकता को धर्म का अभिकेन्द्र माना है, उनके अनुसार– ''धर्म का सार इस बात में निहित हैं कि यह आत्मा के उन्नयन के लिए आध्यात्मिक पक्ष पर बल दें और जीवन को धर्म निरपेक्षता की ओर अग्रेषित करें।''

3.1 धर्म का अर्थ (Meaning of Religion) –

जहाँ तक धर्म शब्द की परिभाषा का प्रश्न है यह अलग–अलग संस्कृतियों व देशों में अलग–अलग अर्थ में प्रयुक्त हुआ हैं। भारत में इसे कर्त्तव्य, अहिंसा, न्याय, सदाचरण तथा सद्‌गुण के अर्थ में मान्यता प्राप्त हैं। सामान्यतः हम धर्म को ''विश्वासों और प्रथाओं'' की ऐसी प्रणाली के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जिसके माध्यम से लोगों का समूह यह व्याख्या करता है कि उसके लिए क्या पवित्र और सात्विक है। वस्तुतः धर्म उन्नति और कल्याण में साधक होता है। व्यक्ति का उच्चस्थ विकास 'स्व' को जानना है। जब वह 'स्व' को जान लेता है तभी परमार्थ में जुटता है। अंग्रेजी में धर्म का समानान्तर शब्द Religion (रिलिजन) है, जिसका अर्थ है – आस्था, विश्वास अथवा अपनी मान्यता। लेकिन अंग्रेजी का शब्द रिलीजन सही अर्थों में धर्म को स्पष्ट नहीं करता। वस्तुतः धर्म किसी पूजा पद्धति, कर्मकाण्ड, उपासना विधि अथवा संकीर्ण अर्थों में तिलक–चोटी, दाढ़ी–टोपी या गण्डा–ताबीज धारण करने का नाम नहीं है। वास्तव में प्रत्येक मनुष्य का अपना सुनिश्चित कर्म अथवा कर्त्तव्य का निष्ठापूर्वक पालन करना ही धर्मानुसार आचरण करना है। यह तभी सम्भव है जब मनुष्य स्वार्थ, संकीर्णता, अभिमान और दूसरों पर शासन करने की इच्छा का परित्याग करे। धर्म सर्वत्र पवित्र माना गया है, लेकिन धार्मिक पवित्रता सापेक्षवादी है। जिसको एक धर्म पवित्र मानता है सम्भव है उसे दूसरे धर्म में घृणा की दृष्टि से देखा जा सकता है। वास्तव में मनुष्य ही यह निर्धारित करते हैं कि उनके लिए क्या पवित्र है, क्या नहीं। धर्म को एक ऐसी एकीकृत प्रणाली के रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है जो अपनी प्रथाओं और विश्वासों से एक समुदाय विशेष को नैतिकता से जोड़ता है।

3.2 धर्म और धर्म निरपेक्षता (Religion & Secularism) –

भारतीय परिप्रेक्ष्य में धर्म निरपेक्षता का अर्थ पाश्चात्य धर्मनिरपेक्षता से सर्वथा भिन्न है। भारत बहुधर्मों का देश है जिसमें अनेक धर्म व मतों के अनुयायी निवास करते हैं। धर्म निरपेक्षता का अर्थ है किसी भी धर्म के मानने वाले के साथ भेदभाव न हो और सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखा जाए। भारत में धर्म निरपेक्षता को संवैधानिक दर्जा प्राप्त है और यह सर्वत्र स्वीकार्य है। यह भारतीय संस्कृति की मौलिक अस्मिता है क्योंकि भारत में अनेक मत व मतान्तर पाए जाते हैं। भारत में ईश्वर को मानने वाले भी है और ईश्वर की सत्ता को नकारने वाले भी है। धार्मिक सहिष्णुता इस देश की मिट्‌टी में है।

3.3 धर्म और नैतिकता (Religion & Morality)–

धर्म का मूल लक्ष्य मानव मात्र की सेवा करना हैं। धर्म अच्छे आचरण, करूणा, शील व अहिंसा पर बल देता हैं। सभी धर्मों में सिद्धान्ततः यही भावना निहित हैं। धर्म बुराईयों से दूर रहने व भलाई व सदाचार के मार्ग पर चलने की शिक्षा देता हैं। धर्म का मूल स्वरूप आध्यात्मिक व आडम्बर रहित हैं। धर्म का काम भलाई करना और उसकी स्तुति करना है। धर्म और राजनीति का विवेकपूर्ण मिलन मानवीय कल्याण में साधक होता है। भारतीय विचारधारा के कई विद्वान् पाश्चात्य शब्द “Religion” को ''धर्म'' शब्द के पर्यायवाची शब्द के रूप में स्वीकारने से हिचकिचाते है क्योंकि धर्म ''रिलीजन'' से कही अधिक विस्तृत एवं नैतिक विचारधारा है। धर्म में न केवल नैतिकता अपितु नैतिक दायित्व के भौतिक गुणों, प्रकृति और मानव के सम्बन्धों एवं मनुष्य व जानवरों के व्यवहार को भी अन्तर्निहित माना गया है। यद्यपि आज के संदर्भ में इतना व्यापक दृष्टिकोण अप्रासंगिक हो सकता है। भारतीय दर्शन में व्याख्यायित तार्किक एवं नैतिक बल का आज भी हम प्रचुर मात्रा में प्रयोग कर सकते हैं। मूलतः यदि कोई भी धर्म अपने आध्यात्मिक पुरुषों द्वारा प्रतिपादित नैतिक मूल्यों का अवलम्बन करता है तो वह मानवता के लिए सर्वथा उपयोगी होता है। दुर्भाग्यवश विभिन्न धार्मिक मतों व पंथों ने अपनी व्यक्तिगत श्रेष्ठता को स्थापित करने के लिए एक–दूसरे से लड़ना–भिड़ना शुरु कर दिया है। इस तरह की आपसी विरोध, विद्वेष कलह की प्रवृत्ति ने धार्मिक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर दी है। सभी धर्मों के सामान्य विश्वास व मूल्य एक जैसे होने के बावजूद वे अभी तक एक धरातल पर आने को तैयार नहीं है।

विभिन्न धर्मों के ज्ञान व मूल्यों का परस्पर आदान–प्रदान विज्ञान से भी कई अधिक उपयोगी हो सकता है। एक वैज्ञानिक सत्य तब अधिक सुदृढ़ हो जाता है जब वह अन्य देशों में हुए शोधों से प्रमाणित माना जाता हो। जिस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में कुछ भी विदेशी नहीं होता उसी तरह धर्म के क्षेत्र में भी कोई साम्प्रदायिकता नहीं होनी चाहिए। निसंदेह विश्व में कई ऐसे समाज सुधारक हुए है जिन्होंने सभी धर्मों के व्यावहारिक संश्लेषण के प्रयत्न किए है। यदि सभी धर्मों के सामान्य तत्वों के समानान्तर अनुभवों को एक कोष के रूप में संग्रहीत किया जाता है तो धर्म की स्थिति व प्रतिष्ठा विज्ञान व लोकतंत्र के समतुल्य हो सकती है। यदि कोई धर्म सत्य की स्थापना का दावा करता है तो उसे सार्वभौमिक ग्राह्यता व प्रयोज्यता स्थापित करनी पड़ेगी। एक धर्म तभी उपयोगी है जब वह अन्य सादृश धर्मों से एकरूपता स्थापित करता हो। जो धर्म दूसरे धर्मों की निन्दा, भर्त्सना व तिरस्कार करता है व उनके धार्मिक विश्वासों, प्रथाओं और रीति–रिवाजों को घृणा की दृष्टि से देखता है तो ऐसा धर्म कभी भी सत्यपरक व सार्वभौमिक नहीं रहता। धार्मिक मान्यताओं और आस्थाओं का किसी प्रयोगशाला में परीक्षण सम्भव नहीं है। वही धर्म श्रेष्ठ है जो नैतिकता के पैमाने पर खरे उतरते है और मानव मात्र के कल्याण के लिए प्रयासरत रहते हैं। अलग–अलग देशों में मान्यताएँ व आस्थाएँ भिन्न–भिन्न हो सकती है परन्तु सत्य व नैतिकता को देश व काल की परिधि में नहीं बाँटा जा सकता। नैतिक सत्य सभी धर्मों में प्रेम, करुणा व दया का संदेश देता है। सभी धर्मों के समान मूल्यों से ही विश्व में श्रेष्ठ राज्य की स्थापना सम्भव है। नैतिकता के नियमों का धारण ही धर्म का प्रतीक है।

3.4 धर्म और राजनीति (Religion & Politics)–

प्राचीन समय से ''धर्म और राजनीति'' अथवा ''राजनीति और धर्म'' में गहरा संबंध रहा हैं। जब–जब धर्म व राजनीति का नकारात्मक संसर्ग हुआ हैं, तब–तब राजनीति ने धर्म का दुरूपयोग किया हैं। बर्ट्रेंड रसेल और ई.एम. फोस्टर जैसे शान्तिवादी विद्वानों ने धर्म की इस बात के लिए आलोचना की है कि धर्म के नाम पर शुद्ध राजनीति करने से विश्व में हमेशा खून–खराबा हुआ है जो आज भी जारी है। आज भी सभी धर्मों में धर्मांन्ध कट्टरपंथी मरने मारने को तैयार है। दूसरे विश्व युद्ध के बाद विश्व में कई ऐसे शक्ति समूह व संवर्ग उत्पन्न हुए है। प्रारम्भ में धर्म, शासन के लिए सुव्यवस्था और सुनीति का संस्थापक बना लेकिन बाद में अनेक शासकों ने धर्म विशेष को अपना राजधर्म घोषित किया और अपने अनुयायिओं की संख्या बढ़ाने के लिए धर्म की आड़ में युद्ध किए। इस्लाम, इसाई, यहुदी और हिन्दु धर्म से पृथक् हुए कुछ मतों ने शक्ति की आड़ में अपनी मान्यता, अपने धर्म के विस्तार का कार्य किया। धर्म की आड़ में साम्राज्यों का विस्तार किया गया और अनेक देशों में परस्पर युद्ध हुए। विगत लगभग दो हजार वर्ष का इतिहास धर्म के नाम पर अनेक बार रक्त रंजित हुआ। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में धर्म आधारित युद्धों पर कुछ हद तक विराम अवश्य लगा किन्तु धार्मिक श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए धर्म की आड़ में आतंकी गतिविधियों की बाढ़ आ गई है। आतंकवादियों ने दूसरे धर्मानुयायियों को अकारण शिकार बनाना आरम्भ कर दिया है। भारत इसका सबसे बड़ा शिकार है।

राम मनोहर लोहिया के अनुसार ''धर्म और राजनीति के दायरे अलग–अलग हैं परन्तु दोनों की जड़े एक हैं। धर्म दीर्घकालीन राजनीति हैं, जबकि राजनीति अल्पकालीन धर्म हैं। धर्म का काम भलाई करना और उसकी स्तुति करना हैं, जबकि राजनीति का कार्य बुराई से लड़ना और बुराई की निन्दा करना हैं। समस्या तब उत्पन्न होती हैं जब राजनीति बुराई से लड़ने के स्थान पर केवल निन्दा करती हैं, तो वह कलही हो जाती हैं, इसलिये आवश्यक हैं कि धर्म और राजनीति के मूल तत्वों को समझा जाये। धर्म और राजनीति का विवेकपूर्ण मिलन मानवीय कल्याण में साधक होता हैं, जबकि इन दोनों का अविवेकपूर्ण मिलन दोनों को भ्रष्ट कर देता हैं, जो मानवता के लिए अनिष्टकारी होता हैं। इस अविवेकपूर्ण मिलन से साम्प्रदायिक कट्टरता उत्पन्न होती हैं। धर्म और राजनीति को पृथक् करने का सबसे बड़ा उद्देश्य यही हैं कि दोनों अपने–अपने मर्यादित क्षेत्र में सक्रिय रहें किन्तु दोनों एक दूसरे का अपनी निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिये दुरूपयोग न करें। वस्तुतः धर्म और राजनीति में सदैव मर्यादित सम्पर्क बना रहना चाहिए ताकि दोनों एक दूसरे का परस्पर सकारात्मक सहयोग कर सकें। नीतिगत धर्म व धर्मप्रद राजनीति का अनुगमन विश्व शान्ति की स्थापना के लिये अपरिहार्य है। राजनीति का धर्म को और धर्म का राजनीति को नकारात्मक रूप से प्रभावित करना मानवता के लिए दुर्भाग्य पूर्ण है। इससे धार्मिक प्रतिक्रियावाद, कट्टरपन, साम्प्रदायिकता व गुलामी की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, जो स्वतन्त्रता व समानता जैसे महत्त्वपूर्ण मूल्यों को प्रभावित करती है। आज विश्व में अधिकांश लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त को अपनाया गया है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार ''आडम्बर आच्छादित व हठधर्मितापूर्ण धर्म मनुष्य को विभाजित करता है, जबकि अनुभव से विकसित धर्म मनुष्य को परस्पर जोड़ने का कार्य करता है।'' उन्होंने यह भी कहा है कि ''जो दूसरों के लिये जीते हैं, वे ही सच में जीते हैं, शेष तो जीते हुए भी मरे जैसे है।'' उनके अनुसार व्यक्ति और समाज में परस्पर अनुकूलता एकात्मकता का भाव व मानवतावादी दृष्टिकोण धर्म के अनुशीलन से ही संभव है।

3.5 धर्म और अहिंसा (Religion & Non-Violence)–

धर्म और अहिंसा का अटूट सम्बन्ध है। अहिंसा और धर्म दोनों के आधार तत्व हैं– क्षमा, दया, करुणा, सत्य, कर्त्तव्यनिष्ठा और ईमानदारी। इन सभी तत्वों को सभी देशों के सभी धर्मों में स्वीकार किया गया है। इन मूल्यों के अभाव में किसी भी धर्म का गठन सम्भव नहीं है। जिस नैतिक नियम को विश्व में आजकल "Golden Rule" या "Ethic of Reciprocity " कहा गया है उसे भारत में प्राचीन काल से ही मान्यता प्राप्त है। सनातन धर्म में इसे ''धर्म सर्वस्वम्'' (धर्म का सबकुछ) कहा गया है।

3.6 धर्म और राष्ट्रीयता (Religion & Nationality) –

कई बार मनुष्य किसी के बहकावे में अथवा अंधानुकरण करते हुए कुछ भ्रान्तियाँ अथवा दुराग्रह पाल लेता है। हम चाहे किसी भी धर्म के अनुयायी हों अथवा किसी भी पंथ का अनुसरण करते हों, राष्ट्र हम सबके लिए सर्वोपरि है। हमारा कोई मत, भाषा, मान्यता और धर्म राष्ट्र से ऊपर नहीं हो सकता। स्पष्ट है राष्ट्र धर्म सर्वोपरि है राष्ट्र की सुरक्षा, राष्ट्र का विकास इसकी एकता और उन्नति में ही सबका हित है। वस्तुतः धर्म व्यवहार में परमार्थ की विलक्षण कला है। धर्म का मूल सार यही है कि हम अपने धर्म, सम्प्रदाय, वर्ण, आश्रम का अनुसरण करते हुए भी परमार्थ में जुटें तथा राष्ट्र को सर्वोपरि मानें।

3.7 भारतीय संस्कृति में धर्म की संकल्पना (The Concept of Religion in Indian Culture)–

संस्कृत के धर्मशास्त्र में उल्लेखित है कि –

यतो अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धी सः धर्म

धर्म भारतीय संस्कृति और दर्शन की प्रमुख संकल्पना हैं। विभिन्न मत मतान्तरों के आधार पर धर्म की विभिन्न परिभाषाएँ एवम् धर्म के विभिन्न अर्थ प्रस्तुत किए जा सकते हैं। लेकिन धर्म की सटीक व्याख्या और अर्थ सनातन ग्रन्थों में उल्लिखित मिलता है। संस्कृत में धर्म शब्द ''धारणात'' से बना है जिसमें घृ घातु है जिसका आशय है कि धारण करना। 'धर्म' शब्द का पश्चिमी भाषाओं में कोई तुल्य शब्द पाना बहुत कठिन हैं। भारतीय संकल्पना में 'धर्म' केवल लौकिक धर्म नहीं हैं। भारतीय संदर्भ में धर्म के विभिन्न अर्थ हैं जिनमें मुख्य हैं – कर्तव्य, अंहिंसा, न्याय, सदाचरण, सद्गुण आदि। धर्म की पाश्चात्य धारणा भारतीय धारणा से बिल्कुल भिन्न हैं। धर्म के बारे में सामान्य रूप से कहा जाता हैं कि यह जीवन जीने का रास्ता बताता है। सभी धर्मों में इसी बात को लेकर अलग–अलग व्याख्या की गयी हैं। धर्म केवल नियम कानूनों में बंधना नहीं बल्कि धर्म एक इंसानियत का भाव बनाए रखने में मदद करता हैं। आज के परिप्रेक्ष्य में यह आवश्यक हैं कि मानवता के धर्म को सबसे श्रेष्ठ धर्म समझा जाये। ऐसा करने से बाकी सभी कुछ आसान हो जायेगा। धर्म की प्रारम्भिक बुनियाद परिवार में बच्चों को दिये जाने वाले संस्कारों से होती है।

''एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति''

ऋग्वेद में कहा गया हैं कि अद्वितीय ब्रह्म या सत्य एक हैं केवल बुद्धिजीवियों ने इसे समय–समय पर अलग–अलग नामों से बताया हैं। ऋग्वेद में ब्रह्म को इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, यम और मातरिश्वान् आदि नाम से सम्बोधित किया गया हैं। वस्तुतः ईश्वर एक हैं जो अपने स्वरूप को अनेक रूपों में प्रस्तुत कर सृष्टि की रचना करता हैं।

प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक याज्ञवल्क्य ने धर्म के लक्षण बताए हैं।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
दानं दमो दया शान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्।।

(अहिंसा; सत्य; चोरी न करना (अस्तेय); शौच(स्वच्छता); इन्द्रिय–निग्रह(इन्द्रियों को वश में रखना); दान; संयम(दम); दया एवं शान्ति)

मनुस्मृति में धर्म के दस निम्नलिखित लक्षण बताये गए हैः–

घृतिः क्षमा दमाऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
घीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

धैर्य, क्षमा, संचय व चोरी न करना, शौच(स्वच्छता), इन्द्रियों को वश में रखना, बुद्धि, विद्या, सत्य और क्रोध न करना ये धर्म के दस लक्षण है।

इस प्रकार सभी शाश्वत मूल्य न केवल भारत में उत्पन्न धर्मों में ही परिलक्षित होते हैं अपितु विश्व के अन्य धर्मो में ही आधारभूत जीवन मूल्यों के रूप में स्वीकार्य है। इस्लाम, ईसाई धर्म व बौद्ध धर्म में व्यक्तिपरक नैतिकता पर विशेष बल दिया गया है जो एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के साथ व्यवहार को संयमित करती है।

3.8 धर्म की ईसाई संकल्पना (Concept of Religion in Christianity) –

ईसाई धर्म एकेश्वरवादी धर्म हैं जिसकी उत्पति आज से 2018 वर्ष पूर्व ईसा मसीह ने की थी। ईसाईयों में बहुत से समुदाय हैं मसलन कैथोलिक, प्रोटैस्टैंट, आर्थोडोक्स, मॉरोनी, एवनजीलक आदि। यह धर्म विश्व की जनसंख्या की दृष्टि से सर्वाधिक अनुयायियों वाला धर्म हैं। इसके सिद्धान्त मूलतः अहिंसा पर बल देते हैं। पश्चिमी ईसाई राजनीतिक विचारधारा में धर्म और राजनीति दोनों की समानान्तर सत्ता को स्वीकार किया गया है।

3.9 इस्लाम में धर्म की संकल्पना (Concept of Religion in Islam) –

इस्लाम दुनिया के नवीनतम धर्मों में से एक है। इस्लाम धर्म का प्रादुर्भाव 622 ई. में मोहम्मद पैगम्बर ने किया। आज दुनिया की लगभग 1.5 अरब आबादी इस्लाम के अनुयायियों की है। दुनिया की कुल आबादी का पाँचवा भाग मुस्लिम है। भौगोलिक दृष्टि से विश्व के केन्द्रीय भू–भाग पर इस्लाम का आधिपत्य है। इस्लाम पूर्व से पश्चिम तक एक जाल की तरह फैला हुआ है। मोरक्कों से मिडांनाओं तक प्रसारित इस्लाम में उत्तर के उपभोक्ता देशों से लेकर दक्षिण के वंचित देश शामिल है। यह अमरीका, यूरोप और रुस को जोड़ने वाले महत्त्वपूर्ण सामरिक चौराहे पर स्थित है। वहीं दूसरी तरफ अश्वेत अफ्रीका, भारत और चीन तक इस्लाम का बोलबाला है। इस्लाम किसी एक राष्ट्रीय संस्कृति व राष्ट्रीय सीमा की परिधि में बंधा हुआ धर्म नहीं है बल्कि एक सार्वभौमिक शक्ति के रूप में पूरी दुनिया में फैला हुआ है।

622 ई. में इस्लाम की उत्पति से लेकर अब तक इस्लाम धर्म के अनुयायियों में लगातार वृद्धि हो रही है। इस्लाम का आविर्भाव सातवीं शताब्दी में एक छोटे से समुदाय के रूप में

मक्का व मदीना में हुआ था। अपने दो अनुयायियों के साथ मोहम्मद पैगम्बर ने इस धर्म की नींव रखी। अपने उद्भव के कुछ ही वर्षों में इस्लाम के बैनर तले सभी अरब जातियों को एकजुट कर दिया गया। अपने प्रादुर्भाव की पहली दो शताब्दियों के भीतर इस्लाम का प्रभाव वैश्विक स्तर पर फैल गया। इस्लाम ने अपने निरन्तर विजय अभियान के माध्यम से सम्पूर्ण मध्य पूर्व उत्तरी अफ्रीका, अरेबियन प्रायद्वीप, ईरानी भू–भाग, मध्य एशिया और सिन्धु घाटी के क्षेत्र को अपने प्रभाव क्षेत्र में ले लिया। यह विजय प्रक्रिया निर्बाध रूप से जारी रही और बाद में इस्लाम को प्राचीन मिश्र और मेसोपोटामिया की सभ्यताएँ विरासत में प्राप्त हुई। इस्लाम ने यूनान के दर्शन और विज्ञान को स्वीकार कर अपनी सुविधा के अनुसार सुधार करते हुए उसका इस्लामीकरण कर दिया। फारस की शासन कला की बारीकियों को सीखते हुए उन्होंने यहूदियों के कानून की तार्किकता और ईसाई धर्म के तरीकों को भी अपना लिया। पारसी द्वैतवाद और मेनेशिया की युक्तियों को इस्लाम में आत्मसात कर लिया गया। इस्लाम में अपनी पूर्वी विजय यात्रा में महायान बौद्धों और भारतीय दर्शन और विज्ञान को स्वीकारने से भी कोई परहेज नहीं किया। इस्लाम के महान महानगरीय केन्द्र बगदाद, काहिरा, कोरडोबा, दमिश्क और समरकंद ऐसी भट्टियों में परिवर्तित हो गए जिसमें इन सांस्कृतिक परम्पराओं की ऊर्जा को नए धर्म और राजनीति में रूपान्तरित किया जाने लगा।

इस्लाम धर्म के आध्यात्मिक और लौकिक, अलौकिक और व्यावहारिक, धार्मिक और धर्म निरपेक्ष में भेद नहीं करता। जहाँ पश्चिमी ईसाई राजनीतिक विचारधारा में धर्म और राजनीति दोनों की समानान्तर सत्ता को स्वीकार किया गया है वहीं इस्लाम धर्म और राजनीति के मध्य कोई भेद नहीं करता बल्कि दोनों को एक दूसरे से गुंथा हुआ मानते हैं। इस्लाम राज्य व शासन शक्ति व सत्ता नियम और वफादारी में व्यापक विविधता को स्वीकार करता है। यह एकता के सिद्धान्त पर आधारित है। हालांकि इस्लाम में ऐसी राजनीतिक सोच की कार्य योजना को तैयार करना अभी संभव नहीं हो सका है जो इसके विभिन्न सांस्कृतिक प्रस्तरों के ऊपर खड़ा हो। पश्चिम के विपरीत इस्लाम धर्म और राज्य के सम्बन्धित क्षेत्र एक दूसरे से आच्छादित है।

निष्कर्ष (Conclusion)

धर्म एक विश्वास एवं आस्था है, भारतीय संस्कृति से इसका प्रगाढ़ सम्बन्ध है। भारतीय संस्कृति में सांस्कृतिक और सामाजिक गतिविधियों का मूलाधार धर्म ही रहा है। प्राचीन काल से भारत के ऋषियों में अज्ञात शक्ति को जानने की जिज्ञासा रही है और धर्म के प्रति आस्था एवं अनुसंधान की प्रक्रिया रही है। धर्म मानव को चिन्तन, व्यवहार और कर्म को उचित और अनुचित का भेद कराने में सफल रहा है। संसार के प्रत्येक भाग में भगवान की कल्पना किसी न किसी रूप में अवश्य की गई है तथा धर्म के बदलते स्वरूप को भी देखा गया है। आज भौतिकवादी युग में धर्म व्यक्ति का वैयक्तिक एवं ऐच्छिक अंश ही रह गया है। आधुनिक काल में वैज्ञानिक आविष्कारों और उत्पन्न होने वाले प्रभावों के कारण सामाजिक जीवन द्रुत गति से परिवर्तित हो रहा है। भारतीय जनमानस पाश्चात्य संस्कृति, साहित्य तथा दर्शन से परिचित हुए तथा उससे प्रभावित हुए, जिसके फलस्वरूप हमारे देश की सामाजिक तथा सांस्कृतिक मान्यताओं में भी परिवर्तन आया है। वैज्ञानिकों की उपलब्धियों ने मानव का दृष्टिकोण परिवर्तित कर दिया है और विज्ञान ने धार्मिक अन्धविश्वासों, रूढ़ियों और आडम्बरों का विरोध कर वास्तविकता से परिचित करा दिया है। 20वीं शताब्दी के अन्त में पूरे विश्व में धर्म का राजनीति में प्रयोग होने से धर्मान्धता में बढ़ोतरी हुई है और कट्टरपन ने आतंकवाद जैसी दुष्प्रवृत्तियों को जन्म दिया है। भारतीय धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की नींव धार्मिक सहिष्णुता, धार्मिक सद्भाव व नैतिकता पर आधारित है और हिंसा के लिए यहाँ कोई स्वीकार्यता नहीं है।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- धर्म मनुष्य में पहले से व्याप्त देवत्व व आध्यात्मिकता का विस्तार मात्र हैं।
- विश्व की अधिकांश राजनीतिक व्यवस्थाओं में धर्मनिरपेक्षता को नीति के रूप में स्वीकार करने पर बल दिया जाता है।
- विश्व के विभिन्न भागों में काल, स्थान व संस्कृति के अनुरूप कई धर्मों का उद्भव व विकास हुआ।
- समय, स्थान और सांस्कृतिक व आध्यात्मिक परिस्थितियों के परिवर्तन से धर्मों में भी परिवर्तन आये।
- सभी धर्मों ने मूलतः एकता के बुनियादी तथ्यों एवं मूल्यों की बात की है।
- वर्तमान समस्या अलग–अलग धर्मों और मतों में एकता स्थापित करने की चेष्टा की हैं।
- धर्म आत्मा के उन्नयन के लिए आध्यात्मिक पक्ष पर बल देता है।
- धर्म, जीवन को धर्म निरपेक्षता की ओर अग्रेषित करें।
- भारतीय संस्कृति और दर्शन में धर्म सदैव एक महत्त्वपूर्ण संकल्पना रही हैं।
- धर्म का सबसे पहले आगाज पूर्वी संस्कृतियों में हुआ।
- भारत में धर्म को कर्त्तव्य, अहिंसा, न्याय सदाचरण तथा सद्गुण के अर्थ में मान्यता प्राप्त हैं।
- धर्म उन्नति और कल्याण में साधक होता है।
- अंग्रेजी में धर्म का समानान्तर शब्द Religion (रिलिजन) है, जिसका अर्थ है – आस्था, विश्वास अथवा अपनी मान्यता।
- धर्म सर्वत्र पवित्र माना गया है, लेकिन धार्मिक पवित्रता सापेक्षवादी है।
- धार्मिक मतों व पंथों ने अपनी व्यक्तिगत श्रेष्ठता को स्थापित करने के लिए एक–दूसरे से लड़ना–भिड़ना शुरु कर दिया है। इस तरह की आपसी विरोध, विद्वेष

कलह की प्रवृत्ति ने धार्मिक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर दी है।

- आज के परिप्रेक्ष्य में मानवता के धर्म को सबसे श्रेष्ठ धर्म समझा जाये।
- एक धर्म तभी उपयोगी है जब वह अन्य सादृश धर्मों से एकरूपता स्थापित करता है।
- सभी धर्मों के समान मूल्यों से ही विश्व में ईश्वरीय राज्य की स्थापना सम्भव है।
- जब–जब धर्म व राजनीति का नकारात्मक संसर्ग हुआ हैं, तब–तब राजनीति ने धर्म का दुरूपयोग किया हैं।
- भारतीय परिप्रेक्ष्य में धर्म निरपेक्षता का अर्थ पाश्चात्य धर्म से भिन्न है।
- भारतीय संकल्पना में 'धर्म' केवल लौकिक धर्म नहीं हैं।
- धर्म और अहिंसा का अटूट सम्बन्ध हैं।
- भारत में धर्म का संबंध साधनापक्ष एवं आचारपक्ष से हैं जिसका लक्ष्य आत्मा का उत्थान हैं।
- याज्ञवल्क्य ने धर्म के नौ लक्षण गिनाये है।
- राष्ट्र धर्म सर्वोपरि है
- ईसाई धर्म एकेश्वरवादी धर्म है
- ईसाई राजनीतिक विचारधारा में धर्म और राजनीति दोनों की समानान्तर सत्ता को स्वीकार किया गया है।
- इस्लाम दुनिया के नवीनतम धर्मों में से एक है।
- इस्लाम धर्म के आध्यात्मिक और लौकिक, अलौकिक और व्यावहारिक, धार्मिक और धर्म निरपेक्ष में भेद नहीं करता
- इस्लाम धर्म और राजनीति के मध्य कोई भेद नहीं करता बल्कि दोनों को एक दूसरे से गुंथा हुआ मानता हैं।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न –

1. "धर्म मनुष्य में पहले से व्याप्त देवत्व व आध्यात्मिकता का विस्तार मात्र है" यह कथन किसका है –
   (अ) कन्फ्यूशियस (ब) स्वामी विवेकानन्द
   (स) प्लेटो (द) महात्मा गाँधी ( )
2. मैथिलीशरण गुप्त किस हृदय को पत्थर मानते हैं –
   (अ) धर्म विहीन हृदय।
   (ब) स्वदेश का प्यार विहीन हृदय।
   (स) शल्यक्रिया वाला हृदय
   (द) इनमें से कोई नहीं ( )
3. मनु स्मृति में कौनसा लक्षण धर्म के विरुद्ध माना गया है–
   (अ) क्षमा (ब) धैर्य
   (स) संचय करना (द) क्रोध नहीं करना ( )
4. धर्म निरपेक्ष राज्य से तात्पर्य है –
   (अ) धर्म विहीन राज्य
   (ब) राज्य एक धर्म को मान्यता दें
   (स) राज्य की दृष्टि में सभी धर्म समान हो
   (द) धार्मिक राज्य ( )
5. इस्लाम धर्म के संस्थापक है–
   (अ) पैगम्बर मोहम्मद (ब) अबू बकर
   (स) हसन व हुसैन (द) मोहम्मद बिन कासिम ( )

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न –

1. आध्यात्मिकता को धर्म का अभिकेन्द्र किस विद्वान् ने माना है?
2. धर्म शब्द का अंग्रेजी अनुवाद लिखें।
3. इस्लाम धर्म की स्थापना किस वर्ष मानी जाती है?
4. ईसाई धर्म के प्रवर्तक कौन थे?
5. गौतम बुद्ध ने किस धर्म का प्रवर्तन किया ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. धर्म क्या है?बताइए।
2. धर्म निरपेक्षता की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
3. धर्म और नैतिकता में सम्बन्ध बताइए।
4. ईसाई धर्म में धार्मिक अवधारणा क्या है?
5. इस्लाम धर्म के सर्वाधिक प्रसार वाले पाँच देशों के नाम लिखिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. धर्म और राजनीति के अन्तर्सम्बन्धों की व्याख्या कीजिए।
2. इस्लाम में धर्म एवं राजनीति के संबंधों का विवेचन कीजिए।

बहुचयनात्मक प्रश्नों के उत्तर

1. ब 2. ब 3. स 4. स 5. अ

4. स्वतंत्रता एवं समानता
(Liberty & Equality)

स्वतंत्रता (Liberty)

स्वतंत्रता शब्द अंग्रेजी के 'लिबर्टी' (LIBERTY) शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है, जिसका अर्थ है– बंधनों का अभाव या मुक्ति। यह इच्छानुसार कार्य करने की छूट है। व्यापक रूप में स्वतंत्रता एक शब्द नहीं आन्दोलन है। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में असंख्य लोगों द्वारा अपना प्राणोत्सर्ग स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए किया गया पवित्र त्याग था। अमेरीकी स्वतंत्रता संग्राम हो या फ्रांस की राज्य क्रान्ति, सभी का केन्द्रीय पक्ष स्वतंत्रता प्राप्ति ही था। ' संसद का इतिहास स्वतंत्रता के लिए संघर्ष का इतिहास रहा है। ' एक सभ्य राजव्यवस्था की प्रथम कसौटी एवं लोकतंत्र का बीजमंत्र मानी जाने वाली यह अवधारणा मनुष्य के जीवन में कितनी महत्त्वपूर्ण है, पैटिक हेनरी के इन शब्दों से स्पष्ट हो जाती है– ' मुझे स्वतंत्रता दीजिए या मृत्यु। ' बाल गंगाधर तिलक के ये शब्द स्वतंत्रता के लिए अनवरत संघर्ष के प्रतीक है – ' स्वतन्त्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है, और मैं इसे लेकर रहूँगा। ' इतिहासकार ' रिची ' के अनुसार ' जीवन के अधिकार ' के बाद साधारणतया स्वतंत्रता के अधिकार का नाम लिया जाता है और बहुत से व्यक्तियों के लिए प्राथमिक और सबसे अधिक आवश्यक अधिकार है। आदर्श दृष्टिकोण में मनुष्य की स्वतंत्रता की खोज मानव इतिहास की केन्द्रीय धारा और मानवमात्र की सर्वश्रेष्ठ आकांक्षा रही है, इसकी पूर्ति हेतु वह सदैव प्रयत्नशील रहता है। यह अन्य साध्य की प्राप्ति हेतु साधन मात्र नहीं बल्कि स्वयं सर्वोच्च साध्य है। इस साध्य की प्राप्ति हेतु व्यक्ति अपने जीवन का सर्वोच्च बलिदान देने को तत्पर रहता है।

4.1 स्वतंत्रता का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Liberty)

जिस शब्द या आन्दोलन के इर्द–गिर्द मानव सभ्यता व्याकुल है आखिर वह है क्या ? केवल बंधनों का अभाव ही स्वतंत्रता है तो मनुष्य परस्पर संघर्षों से ही नष्ट हो जाएगा। सबल या सक्षम ही स्वतंत्र होंगे बाकी उनके अधीन, तो फिर स्वतंत्रता क्या ? स्वतंत्रता व्यक्ति की अपनी इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति का नाम है, इस दौरान दूसरे व्यक्तियों की इसी प्रकार की स्वतंत्रता में कोई बाधा नहीं पहुँचे। इस प्रकार स्वतंत्रता के दो विचार हुए – एक बंधनों का अभाव, दूसरा युक्तियुक्त बंधनों का होना। इन दोनों विचारों पर दृष्टिपात आवश्यक है।

स्वतंत्रता का नकारात्मक अर्थ – यह वह स्थिति है जिसमें कोई बन्धन नहीं होता है। व्यक्ति को मनमानी करने की छूट हो। सामाजिक समझौतावादी विचारक, हाब्स के अनुसार ' स्वतंत्रता का अभिप्राय निरोध व नियंत्रण का सर्वथा अभाव है।' रुसो भी इसी अवधारणा से प्रभावित था। व्यक्तिवादी विचारक भी स्वतंत्रता के इसी स्वरूप का समर्थन करते हैं। जे.एस. मिल इसी वर्ग में शामिल चिंतक है जो कहते है ''अंतःकरण, विचार, धर्म, प्रकाशन, व्यवसाय, दूसरों से सम्बन्ध बनाने के क्षेत्र में व्यक्ति को निर्बाध छोड़ देना चाहिए।''
इसी क्रम में मिल कहता है– राज्य को व्यक्ति के निजी कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। नकारात्मक अवधारणा मानती है कि –

1. प्रतिबन्धों का अभाव ही स्वतंत्रता है।
2. राज्य का कार्यक्षेत्र बढ़ने से व्यक्ति की स्वतंत्रता सीमित होती है।
3. कम से कम शासन करने वाली सरकार अच्छी सरकार है।
4. मानव विकास के लिए खुली प्रतियोगिता का सिद्धान्त हितकर है।
5. सरकार द्वारा समर्थित संरक्षण व्यक्तिगत हित में ठीक नहीं है।

वैश्वीकरण के वर्तमान सभ्य युग में, जहाँ मनुष्य परस्पर निर्भर है, स्वतंत्रता का यह अर्थ तार्किक नहीं है। समाज में रहते हुए मनुष्य को अनेक मर्यादाओं का पालन करना पड़ता है। वह असीमित स्वतंत्रता का उपभोग नहीं कर सकता।

स्वतंत्रता का सकारात्मक अर्थ –

सकारात्मक स्वतंत्रता की अवधारणा कल्याणकारी राज्य एवं आदर्शवादी विचारधारा के साथ जुड़ी हुई है। जहां नकारात्मक स्वतंत्रता राज्य के न्यूनतम कार्यक्षेत्र की समर्थक है, सकारात्मक स्वतंत्रता राज्य की कल्याणकारी भूमिका को आवश्यक मानती है। इसके अनुसार आर्थिक विषमता की स्थिति में कानूनों का अभाव स्वतंत्रता की गारंटी नहीं होता है। राज्य अपनी सकारात्मक कार्रवाई द्वारा वंचित तबकों के लिए ऐसी सामाजिक–आर्थिक स्थितियां उत्पन्न करता है, जिसमें व्यक्ति इन स्वतंत्रताओं का सचमुच उपयोग कर सके। इसी क्रम में आदर्शवादी विचारधारा यह स्थापित करती है कि स्वतंत्रता का अर्थ बंधनहीनता नहीं है बल्कि यह स्वछंदता तो मनुष्य को अधःपतित कर पशु तुल्य बना देगी। मनुष्य के तात्विक उत्कर्ष के लिए जरूरी है कि उसकी स्वतंत्रता पर राज्य द्वारा 'उचित' बंधन लगाए जाए, तभी वह सच्ची स्वतंत्रता होगी। स्वतंत्रता सकारात्मक स्वरूप में इसकी पक्षधर है कि –

1. स्वतंत्रता पर युक्तियुक्त प्रतिबन्ध आवश्यक है।
2. समाज एवं व्यक्ति के हित परस्पर निर्भर है।
3. स्वतंत्रता का सही स्वरूप राज्य के कानून पालन में है।
4. राजनीतिक एवं नागरिक स्वतंत्रता का मूल्य आर्थिक स्वतंत्रता के बिना निरर्थक है।
5. स्वतंत्रता के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए दूसरों की स्वतंत्रता को मान्यता देना आवश्यक है।
6. स्वतंत्रता व्यक्ति सर्वांगीण विकास की परिस्थितियाँ उत्पन्न करती है।

4.2 स्वतंत्रता के विविध रूप/प्रकार (Various Kinds of Liberty)

1. प्राकृतिक स्वतंत्रता (Natural Liberty) –

मनुष्य को स्वतंत्रता का यह रूप मनुष्य या किसी मानवीय संस्था से प्राप्त नहीं होता बल्कि यह प्रकृति प्रदत्त है। यह प्रकृति द्वारा मनुष्य के जन्म के साथ ही उसके व्यक्तित्व में निहिंत है। व्यक्ति स्वयं भी इसका हस्तान्तरण नहीं कर सकता है। यह स्वतंत्रता राज्य के अस्तित्व में आने से पूर्व की अवस्था है। इस विचार के समर्थकों का मानना है कि राज्य की स्थापना के साथ ही यह स्वतंत्रता धीरे–धीरे विलुप्त हो जाती है। रुसों ने इस सम्बन्ध में कहा है – ' मनुष्य स्वतंत्र जन्म लेता है किन्तु वह सर्वत्र बन्धनों में जकड़ा रहता है। ' सभी समझौतावादी विचारक इस स्वतंत्रा के समर्थक थे।

2. व्यक्तिगत स्वतंत्रता (Personal Liberty) –

मनुष्य को अपने निजी जीवन के कार्यों में स्वतंत्रता होनी चाहिए। उसके व्यक्तिगत कार्यों पर केवल समाज हित में ही बंधन लगाए जा सकते हैं। लोकतांत्रिक देशों में नागरिकों की स्वतंत्रता का विशेष महत्त्व है। उन्हें अपनी पसन्द, विचार, अभिव्यक्ति और मूल्यों के अनुसार जीवन जीने की स्वतंत्रता होती है। वेशभूषा, खान–पान, रहन–सहन, परिवार, धर्म आदि क्षेत्रो में व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। व्यक्तिगत स्वतंत्रता मनुष्य की जीवन शैली से सम्बन्धित है, इसका प्रभाव जैसे ही समाज पर पड़ना प्रारंभ हो जाता है इस पर नियंत्रण अपेक्षित है।

3. नागरिक स्वतंत्रता (Civil Liberty) –

एक नागरिक होने के कारण मनुष्य को उस देश में मिलने वाली वे स्वतंत्रताएँ जिन्हे समाज स्वीकार करता है और राज्य मान्यता प्रदान कर संरक्षण प्रदान करता है को नागरिक स्वतंत्रता कहा जाता है। हमारे देश में ये स्वतंत्रताएँ मूल अधिकारों के रूप में संविधान में समाहित की गई है। गेटिल के अनुसार, "स्वतंत्रताएँ उन अधिकारों और विशेषाधिकारों को कहते हैं, जिनको राज्य अपने नागरिकों के लिए उत्पन्न करता है और रक्षा करता है।"

4. राजनीतिक स्वतंत्रता (Political Liberty) –

राज्य के कार्यों व राजनीतिक व्यवस्था में हिस्सेदारी का नाम राजनीतिक स्वतंत्रता है। गिलक्राइस्ट इसे लोकतंत्र का दूसरा नाम बताते हैं। यह वह स्वतंत्रता है जिसमें प्रत्येक नागरिक को मतदान करने, चुनाव में हिस्सा लेने एवं सार्वजनिक पदों पर नियुक्ति पाने का अधिकार हो।

5. आर्थिक स्वतंत्रता (Economic Liberty) –

आर्थिक स्वतंत्रता से अभिप्रायः है कि व्यक्ति का आर्थिक स्तर ऐसा होना चाहिए, जिसमें वह स्वाभिमान के साथ, बिना वित्तीय चुनौतियों का सामना किए, स्वयं व परिवार का जीवन निर्वाह कर सके। यह आर्थिक सुरक्षा भी है। इसमें आर्थिक आधार पर विषमताओं को कम करने के प्रयास भी शामिल है, जिसमें शोषण का दायरा–न्यूनतम हो, व्यक्ति आर्थिक गुलामी की अवस्था में नहीं हो, सभी को आर्थिक उन्नति के समान अवसर प्राप्त हो, व्यवसाय चुनने एवं रोजगार की स्वतंत्रता हो, जिससे वह गरिमापूर्ण जीवन जी सके।

6. धार्मिक स्वतंत्रता (Religious Liberty) –

इसका सम्बन्ध अन्तःकरण से है। यह व्यक्ति को किसी भी धर्म को मानने, आस्था व आचरण की छूट देता है। इस स्वतंत्रता में धर्म के संस्कार, रीति–रिवाज पूजा के तरीके, संस्थाओं के गठन व धर्म के प्रचार की आजादी है। धर्म के नाम पर कानून व्यवस्था भंग करना या बलात् धर्म परिवर्तन की अनुमति इस स्वतंत्रता में नहीं है।

7. नैतिक स्वतंत्रता (Moral Liberty) –

इसका सम्बन्ध व्यक्ति के चरित्र, नैतिकता एवं औचित्यपूर्ण व्यवहार से है। अंतःकरण एवं नैतिक गुणों से प्रभावित होकर जब व्यक्ति कार्य करता है तो वह नैतिक स्वतंत्रता है। स्वार्थ, लोभ, क्रोध, घृणा, दुर्भाव जैसी चारित्रिक दुर्बलताओं के वशीभूत होकर कार्य करने वाला व्यक्ति नैतिक परतंत्रता की श्रेणी में आता है।

8. सामाजिक स्वतंत्रता (Social Liberty) –

सामाजिक स्वतंत्रता, सामाजिक समानता व न्याय की जननी मानी जाती है। मनुष्य के साथ जाति, वर्ग, वर्ण, लिंग, धर्म, नस्ल आदि के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाना व समान व्यवहार करना सामाजिक स्वतंत्रता है। हमारे संविधान में समता का अधिकार इसी स्वतंत्रता को पुख्ता करने के लिए दिया गया है। कानून के समक्ष समता व समान कानूनी संरक्षण प्राप्त हो, यही सामाजिक स्वतंत्रता है।

9. राष्ट्रीय स्वतंत्रता (National Liberty) –

कोई राष्ट्र जब संप्रभु राज्य बन जाता है तो यह राष्ट्रीय स्वतंत्रता का परिचायक है, अर्थात् वह अन्य देशों के आदेश पालन से मुक्त हो जाते हैं। उपनिवेशवाद इसका सबसे बड़ा शत्रु है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के बिना व्यक्ति की अन्य स्वतंत्रताएँ गौण है।

10. संवैधानिक स्वतंत्रता (Constitutional Liberty) –

यह नागरिकों को संविधान द्वारा प्रदत्त की जाती है, संविधान ऐसी स्वतंत्रताओं की रक्षा की गारन्टी देता है, जिससे शासन भी इनमें कटौती नहीं कर सकता है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 32 नागरिकों को संवैधानिक उपचारों का अधिकार देता है।

4.3 स्वतंत्रता के लिए आवश्यक शर्ते (Essential Conditions for Liberty) –

मानवीय स्वतंत्रता के अनुरक्षण हेतु कुछ स्वाभाविक परिस्थितियाँ समाज में आवश्यक है, उनके अभाव में स्वतंत्रता का अस्तित्व संकट में पड़ जाता है। ये है –

1. व्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रति निरन्तर जागरुकता।
2. नागरिक की निडरता एवं साहस।
3. समाज में लोकतांत्रिक भावनाओं का पनपना।
4. स्वतंत्रताएँ लोकतांत्रिक शासन में ही पनप सकती है।
5. साथी नागरिकों को विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होना।

6. आर्थिक दृष्टि से समता मूलक समाज।
7. पक्षपात विहीन विधि का शासन।
8. प्रेस की स्वतंत्रता।
9. निष्पक्ष जनमत।
10. समाज में शान्ति व सुरक्षा का वातावरण।
11. स्वतंत्र– न्यायपालिका।
12. संविधानवाद।

4.4 स्वतंत्रता के मार्ग की प्रमुख बाधाएँ (Hurdles in the Way of Liberty) –

1. अपनी स्वतंत्रता के प्रति जागरुकता का अभाव।
2. अशिक्षा।
3. गरीबी तथा संसाधनों का अभाव
4. न्यायपालिका के कार्यों में कार्यपालिका का हस्तक्षेप
5. संविधान व कानूनों के प्रति सम्मान का अभाव
6. अराजकता का वातावरण।
7. कार्यपालिका का स्वेच्छाचारी आचरण।
8. राष्ट्रविरोधी तत्व तथा आतंकवाद।

समानता (Equality)

समानता की अवधारणा की उत्पति विशेषाधिकार प्रथा के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुई है। प्रकृति ने सभी मनुष्यों को जन्म से ही समान उत्पन्न किया है। असमानता का निर्माण मानव निर्मित परिस्थितियों के कारण होता है। मानव अधिकारों के घोषणा–पत्र में कहा गया है कि '' मनुष्य स्वतंत्र और समान पैदा हुए है और वे अपने अधिकारों के विषय में भी स्वतंत्र और समान रहते हैं। '' अमेरीका की स्वतंत्रता की घोषणा 1776 में भी कहा गया है कि ' हम इस सत्य को स्वयंसिद्ध मानते हैं कि प्रकृति ने सभी मनुष्यों को समान उत्पन्न किया है। '

4.5 समानता का अर्थ (Meaning of Equality)–

समानता उस परिस्थिति का नाम है, जिसके कारण सभी व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु समान अवसर प्राप्त हो सकें। साथ ही सामाजिक विषमता के कारण उत्पन्न होने वाली असमानताओं को समाप्त किया जा सकें। समाज में सभी व्यक्तियों को एक समान किए जाने की अवधारणा संभव नहीं है। प्रकृति ने सभी लोगों की शारीरिक एवं मानसिक रूप से समान योग्यताएँ भी नहीं दी है। लास्की के अनुसार '' समानता का अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति के साथ एक जैसा व्यवहार किया जाए या प्रत्येक व्यक्ति को समान वेतन दिया जाए। '' यदि एक मजदूर का वेतन प्रसिद्ध वैज्ञानिक या गणितज्ञ के बराबर कर दिया जाए तो इससे समाज का उद्देश्य ही नष्ट हो जाएगा इसलिए समानता का यह अर्थ है कि 'कोई विशेष अधिकार वाले वर्ग नहीं रहे और सबको उन्नति के समान अवसर प्राप्त हों।'

4.6 समानता के आधारभूत तत्व (Basic Elements of Equality) –

1. समान लोगों के साथ समान व्यवहार ही समानता है।
2. सभी लोगों को विकास के समान अवसर प्राप्त हों।
3. समाज एवं राज्य सभी लोगों के साथ समान आचरण एवं व्यवहार करें।
4. मानवीय गरिमा तथा अधिकारों को समान संरक्षण प्राप्त हों।
5. समाज में किसी व्यक्ति के साथ जाति, धर्म, भाषा, वर्ग, वर्ण, लिंग, निवास स्थान, सम्पत्ति, राष्ट्रीयता आदि के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाए।
6. प्रत्येक व्यक्ति को समाज में समान महत्त्व दिया जाए।

4.7 समानता के प्रकार (Kinds of Equality) –

समानता के विविधि प्रकारों का जिक्र राजनीतिक चिंतकों ने किया है, जिन्हें समेकित रूप में हम इन रूपों में देख सकते हैं–

1. **नागरिक समानता (Civil Equality) –** राज्य के सभी नागरिकों को नागरिक अधिकार प्राप्त हो तथा राज्य अपने नागरिकों के साथ किसी तरह का भेदभाव नहीं करे, जिससे नागरिकों के मन में राज्य के प्रति विश्वास की भावना कायम हो सके। विधि के शासन की स्थापना द्वारा नागरिक समानता को स्थापित किया जा सकता है। हमारे देश में संविधान द्वारा मौलिक अधिकारों के अन्तर्गत अनुच्छेद 14 द्वारा सभी नागरिकों को विधि के समक्ष समानता तथा विधि का समान संरक्षण का अधिकार दिया गया है।

2. **राजनीतिक समानता (Political Equality) –** राज्य के सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के राज्य के कार्यों में भाग लेने की समानता हो। सभी वयस्क नागरिक जो अन्य योग्यताएँ पूर्ण करते हों, को समान रूप से मताधिकार, निर्वाचन हेतु अभ्यर्थना देने, सार्वजनिक पदों को प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हो। राजनीतिक समानता प्रजातंत्र की आधारशिला है।

3. **सामाजिक समानता (Social Equality) –** सामाजिक दृष्टि में सभी व्यक्ति समान हो, किसी को विशेषाधिकार प्राप्त नहीं हो। समाज में सभी को विकास के समान अवसर व सहभागिता मिलें। इससे सामाजिक न्याय की अवधारणा परिपक्व होगी।

4. **प्राकृतिक समानता (Natural Equality) –** इस अवधारणा के प्रतिपादक मानते हैं कि प्रकृति ने सभी मनुष्यों को समान बनाया है। उनमें एक जैसा शरीर एवं बुद्धि होती है। कालान्तर में उनमें जो अन्तर दिखता है वह सामाजिक परिस्थितियों की भिन्नता का परिणाम है।

प्राकृतिक समानता का सिद्धान्त सबसे ज्यादा मतवैभिन्य युक्त है। प्रकृति सभी को समान पैदा भी नहीं करती और न ही

प्रकृति से सभी मनुष्य गुण, योग्यता, क्षमता, शक्ति, प्रतिभा, विचार आदि से समान होते हैं

5. **आर्थिक समानता (Economic Equality)** – यह समानता अन्य सभी समानताओं का आधार है। आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक, नागरिक एवं सामाजिक समानता अर्थहीन है। सम्पत्ति का समान वितरण या सभी को समान वेतन, आर्थिक समानता नहीं है। यह अवसर की समानता है, अर्थात् सभी लोगों को कार्य करने के समान अवसर उपलब्ध करवाये जाए एवं सभी व्यक्तियों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हो।

6. **सांस्कृतिक समानता (Cultural Equality)** – राज्य द्वारा बहुसंख्यक एवं अल्पसंख्यक वर्गों के साथ समानता का व्यवहार करना, सांस्कृतिक समानता की श्रेणी में आता है। इन्हें अपनी भाषा, लिपि, संस्कृति तथा सामाजिक परिवेश के संरक्षण के समुचित अवसर प्रदान किए जाए। हमारा संविधान सांस्कृतिक समानता हेतु मौलिक अधिकार का प्रावधान करता है।

7. **कानूनी समानता (Legal Equality)** – प्रजातांत्रिक राज्यों में कानूनी समानता की स्थापना करके ही विषमता का अन्त किया जा सकता है। इसका तात्पर्य है, कानून के समक्ष समानता तथा कानूनों का समान संरक्षण। कानून के समक्ष समानता का आशय बिना किसी भेदभाव के नागरिकों को कानून के समक्ष समान समझना, जिससे विधि के शासन (Rule of law) की स्थापना हो सके। द्वितीय, कानून के समान संरक्षण का तात्पर्य है – '' एक जैसे लोगों से कानून का एक जैसा व्यवहार '' अर्थात् सभी के लिए समान कानून, समान न्यायालय व एक जैसे गुनाह पर समान दण्ड तथा कानून सभी को अपने बचाव के समान अवसर प्रदान करता है।

8. **अवसर की समानता (Equality of Opportunity)** – राज्य अपने समस्त नागरिकों को समुचित विकास के समान अवसर प्रदान करता है। राज्य जाति, धर्म, वर्ग, वर्ण, लिंग, नस्ल आदि के आधार पर बिना किसी भेदभाव के नागरिकों को अवसर की समानता प्रदान करता है।

9. **शिक्षा की समानता (Equality of Education)** –
राज्य अपने सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के समान शैक्षणिक अवसर उपलब्ध करवाता है लेकिन राज्य द्वारा समाज के कमजोर व पिछड़े वर्गों के लिए विशेष सुविधाएँ प्रदान करना समानता का हनन नहीं है।

4.8 स्वतंत्रता और समानता में सम्बन्ध (Relationship Between Equality & Liberty) –

स्वतंत्रता एवं समानता के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन आवश्यक है। ये दोनों ही अवधारणाएँ व्यक्ति के जीवन को गहराई से प्रभावित करती है। किन्तु इस पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। पहला मत इन्हें परस्पर विरोधी मानता है तो दूसरा पूरक।

स्वतंत्रता एवं समानता परस्पर विरोधी है – इस अभिमत के समर्थक मानते हैं कि इनमें कोई साम्यता नहीं है। लार्ड एक्टन का मानना है कि समानता के आवेश ने स्वतंत्रता की आशा को व्यर्थ कर दिया है। इनकी मान्यता है कि – प्रकृति में ही असमानता विद्यमान है। योग्य तथा अयोग्य में समानता स्थापित करने का कोई औचित्य नहीं है और न ही वास्तविक रूप में समानता स्थापित की जा सकती है। व्यवहार में दोनों में से किसी एक परिस्थिति को स्थापित किया जा सकता है।

दूसरा विचार दोनों को एक–दूसरे का पूरक मानता है – रुसों तो यहाँ तक कहता है कि ' समानता के बिना स्वतंत्रता जीवित नहीं रह सकती। ' पोलार्ड लिखते हैं, ' स्वतंत्रता की समस्या का एकमात्र समाधान समानता में निहित है। ' व्यक्ति के विकास हेतु दोनों ही आवश्यक है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि दोनों अवधारणाएँ अपनी मर्यादा में रहें। महात्मा गाँधी का यह विचार समीचीन है कि – 'स्वतंत्रता का अर्थ नियत्रंण का अभाव नहीं अपितु व्यक्तित्व के विकास की अवस्थाओं की प्राप्ति है। ' नियत्रंणहीन स्वतंत्रता स्वच्छंदता है तो बन्धन युक्त स्वतंत्रता निरर्थक है।

राजनीतिक समानता के बिना स्वतंत्रता अर्थहीन हो जाएगी। नागरिकों का बड़ा समूह शासन की भागीदारी से वंचित हो जाएगा। वहीं नागरिक समानता के अभाव में स्वतंत्रता का उपभोग करने के अवसर ही नहीं मिलेंगे। दूसरी ओर सामाजिक समानता के अभाव में स्वतंत्रता कुछ लोगों का विशेषाधिकार बनकर रह जाएगी तथा आर्थिक समानता की अनुपस्थिति में सम्पति का केन्द्रीकरण पूँजीपतियों के हाथों में हो जाने से शेष समाज उन पर आश्रित हो जायेगा। हर्बर्ट डीन का यह मत दोनों के सम्बन्धों को स्पष्ट कर देता है– '' स्वतंत्रता में समानता निहित है, स्वतंत्रता तथा समानता में परस्पर कोई द्वन्द्व नहीं है और न ही ये एक–दूसरे से पृथक् हैं, वरन् एक ही आदर्श के दो तथ्य है।''

महत्त्वपूर्ण बिन्दु :–

- स्वतंत्रता शब्द अंग्रेजी के 'लिबर्टी' का हिन्दी रूपान्तरण है जिसका अर्थ है – बंधनों का अभाव।
- भारतीय स्वाधीनता संग्राम में बाल गंगाधर तिलक का उद्घोष था – ' स्वतंत्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार हैं, और मैं इसे लेकर रहूँगा।'
- स्वतंत्रता के दो विचार है– बंधनों का अभाव व युक्तियुक्त बंधनों का होना।
- प्रकृति ने सभी मनुष्यों को स्वतंत्र एवं यथायोग्य समान पैदा किया है।
- राजनीतिक स्वतंत्रता लोकतंत्र की आत्मा है।
- आर्थिक स्वतंत्रता के बिना अन्य स्वतंत्रताएँ निरर्थक है।
- राष्ट्रीय स्वतंत्रता, संप्रभुता का ही दूसरा नाम है।
- राज्य की संप्रभुता व्यक्ति की स्वतंत्रता पर बंधन आरोपित नहीं करती है। वस्तुतः मनुष्य राज्य में रहकर

ही वास्तविक स्वतंत्रता का उपभोग कर सकता है।

- आर्थिक असमानता, न्यायपालिका पर नियंत्रण, शिक्षा का अभाव, विधि के शासन का अभाव, आतंकवाद आदि स्वतंत्रता के मार्ग की अड़चने हैं।
- स्वतंत्रता तथा समानता एक दूसरे के पूरक है।
- समानता के विविध रूप है– नागरिक, राजनीतिक, सामाजिक, प्राकृतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, कानूनी अवसर व शिक्षा की समानता।
- समानता के आंगन में ही स्वतंत्रता का पौधा पनपता है

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. स्वतंत्रता का अर्थ है –
   (अ) प्रतिबन्धों का अभाव
   (ब) कोई भी कार्य करने की छूट
   (स) कोई भी कार्य करने की शक्ति
   (द) नागरिक के सर्वांगीण विकास के लिए उपलब्ध सुविधाएँ ( )

2. इनमें से कौनसा/से वक्तव्य उचित है, सही युग्म छाँटिए –
(I) राजनीतिक स्वतंत्रता के बिना समानता का कोई औचित्य नहीं।
(ii) समानता, विधि के शासन में सम्भव है।
(iii) समाज में सम्पति का सभी नागरिकों में समान वितरण हो।
(iv) राष्ट्रीय सम्प्रभुता के बिना स्वतंत्रता कपोल कल्पना है।
   (अ) i, ii, iii (ब) i, ii, iv
   (स) ii, iii, iv (द) i, ii, iii, iv ( )

3. सामाजिक समानता को स्पष्ट करने वाला कौनसा कथन सही है –
   (I) व्यक्ति को विकास के समान अवसर।
   (ii) बिना भेदभाव के कानूनी संरक्षण।
   (iii) समाज के सभी नागरिकों की समान आय।
   (iv) जातीय आधार पर भेदभावों की समाप्ति
   (अ) ii, iii, iv (ब) i, ii, iii
   (स) i, ii, iv (द) i, iii, iv ( )

4. कौनसा विचार स्वतंत्रता का मूलमंत्र माना जाता है–
   (अ) विधि का शासन
   (ब) अराजकता का साम्राज्य
   (स) कार्यपालिका की स्वेच्छाचारिता
   (द) असाक्षरता ( )

5. किस देश के नागरिक को समानता, मौलिक अधिकार के रूप में प्राप्त है –
   (अ) भारत (ब) अफगानिस्तान
   (स) पाकिस्तान (द) श्रीलंका ( )

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. स्वतंत्रता के दो विचार कौनसे है ?
2. स्वतंत्रता के सम्बन्ध में तिलक का नारा लिखिए ?
3. लोकतंत्र की आत्मा किस स्वतंत्रता को माना गया है ?
4. अवसर की समानता का क्या तात्पर्य है ?
5. पूँजीवादी देशों में किस समानता का अभाव पाया जाता है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. स्वतंत्रता के कोई पाँच प्रकार बताइये ?
2. राजनीतिक स्वतंत्रता क्या है ?
3. समानता की अवधारणा पर लास्की के विचार लिखें।
4. 'विधि का शासन ' अवधारणा स्पष्ट कीजिए ?
5. 'अवसरों की समानता ' पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।
6. सकारात्मक स्वतंत्रता को स्पष्ट कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. 'मुझे स्वतंत्रता दीजिए या मृत्यु' पेट्रिक हेनरी के इस कथन के संदर्भ में स्वतंत्रता की अवधारणा पर अपने विचार सविस्तार लिखिए।
2. निर्बाध स्वतंत्रता आज सम्भव नहीं है। क्या आप इस कथन से सहमत है ? स्वतंत्रता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को सोदाहरण बताइए।
3. पूर्ण समानता स्वप्नलौकीय कल्पना है। इस अवधारणा को समानता के अर्थ, आधारभूत लक्षण व प्रकारों की व्याख्या के संदर्भ में समझाइए।
4. स्वतंत्रता व समानता के अन्तर्सम्बधों को स्पष्ट कीजिए।

बहुचयनात्मक प्रश्नों के उत्तर

1. द 2. ब 3. स 4. अ 5. अ